SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ८

अगस्त १९९९

मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई का केवल इस्पात आकर्षित नहीं करता ग्राहकों को

तितलियों
को भी
बुला
लेते हैं,
रंग-बिरंगे फूल!

प्रतिवर्ष भिलाई बिरादरी संयंत्र, खनि-नगरों और इस्पात नगरी में एक लाख पचास हजार से अधिक पौधे लगाती है । संयंत्र के भीतर अनेक उद्यान भी विकसित किये गये हैं । प्रबुद्ध एवं संवेदनशील प्रबंधन ने पर्यावरण को उच्च प्राथमिकता पर रखा है, शायद इसीलिए बहुत से भ्रमणार्थी सोच में पड़ जाते हैं कि संयंत्र में उद्यान है या उद्यानों में संयंत्र?

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड
भिलाई इस्पात संयंत्र

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ८ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(छठी तालिका)

३०१. श्री हरीशभाई रमानी, मलाड, मुम्बई (महाराष्ट्र)
३०२. श्री सुमीत केसवानी. नेहरू बाजार. जयपुर (राजस्थान)
३०३. श्री धोबाराम केवर्त, पत्थलगाँव, जशपुर (म.प्र.)
३०४. श्री रामेश्वरदास शिवदयाल अग्रवाल. देवरी, गोंदिया (म.प्र.)
३०५. श्रीमती अनिता आर. पटेल, गाँधीनगर (गुजरात)
३०६. श्री एन. पी. कोल्हारकर, वर्धा रोड, नागपुर (महाराष्ट्र)
३०७. श्रीरामकृष्ण आश्रम, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
३०८. श्री विष्णु अग्रवाल. तिलक नगर, बिलासपुर (म.प्र.)
३०९. श्री सुशील अलकरा धाराशिववाले, जाँजगीर (म.प्र.)
३१०. बेबी ब्रह्मचारिणी, राम चौक, सूरत (गुजरात)
३११. श्री माधव नारायणराव देशपांडे, गाँधी वार्ड, वर्धा (महाराष्ट्र)
३१२. डॉ. संजय कुमार पाण्डेय, महावीर आवास, वर्धा (महाराष्ट्र)
३१३. ग्रंथपाल, श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द समिति, अमरावती (महाराष्ट्र)
३१४. डॉ. एस. एम. दवण्डे, कोठी बाजार. बैतुल (म.प्र.)
३१५. डॉ. प्रतिमा चौधरी, जलविहार कालोनी. रायपुर (म.प्र.)
३१६. श्री टी. एल. देवांगन, बचेली. दन्तेवाड़ा (म.प्र.)
३१७. श्री परदेशी लाल राधेश्याम सर्राफ. चौथ माता बाजार. कोटा (राजस्थान)
३१८. श्री अरुण कुमार पुरोहित, गरोठ, मन्दसौर (म.प्र.)
३१९. श्री नरेन्द्र कुमार टाँक, हाथी भाठा, अजमेर (राजस्थान)
३२०. श्री सुशील कुमार कुन्द्रा, विकास कुंज, नई दिल्ली
३२१. श्री संजय जिंतुरकर. भाग्यनगर. औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
३२२. बापी जनरल स्टोर्स, अमरकण्टक, शहडोल (म.प्र.)
३२३. डॉ. आर. पी. मिश्रा, सिविल लाइन्स. रींवा (म.प्र.)
३२४. श्री भास्कर भाई उपाध्याय. बस स्टैण्ड के पास. जूनागढ़ (गुजरात)
३२५. श्री रमेशचन्द्र एन. बैद्य, अहमदाबाद (गुजरात)
३२६. श्री रामप्रसाद लोधा. चाकुलिया, पूर्व सिंहभूम (बिहार)
३२७. श्री सी. ए. बोरोले. आशीष नगर, भिलाई (म.प्र.)
३२८. श्रीमती सरला श्रीवास्तव, बेनीगंज. इलाहाबाद (उ.प्र.)
३२९. श्री ओ. पी. व्यास, जोधपुर (राजस्थान)
३३०. श्रीमती श्रद्धा चन्द्राकर, रविशंकर नगर, भोपाल (म.प्र.)
३३१. श्री योगेन्द्र देवांगन. कोण्डागाँव. बस्तर (म.प्र.)
३३२. श्री एम. एम. नवलजी, कदरा कालोनी, कारवार (कर्नाटक)
३३३. डॉ. आर. एल. मित्तल, न्यू लालबाग कालोनी. पटियाला (पंजाब)

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिए अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी रचनात्मक विषय पर रचनाओं को विवेक-ज्योति में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के चार या अधिक-से-अधिक चार-पाँच पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(३) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रति अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए टिकट लगा लिफाफा भी संलग्न करें।

(४) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय और यदि सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(५) 'विवेक-ज्योति' के लिए भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(६) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में यथोचित संशोधन करने का सम्पादक को पूरा अधिकार होगा।

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से वह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है – ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/- ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी '९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा।

नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा। — *व्यवस्थापक*

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

सन्तोष का सुख

ये वर्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्याप्तबुद्धेः।
तेषामन्तःस्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयं
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥

अर्थ – ध्यान के बाद, अपनी पहाड़ी गुफा की पाषाण-शय्या पर विश्राम करते हुए मैं अपने हृदय से उद्भूत उपेक्षाप्रसूत हास्य के साथ उन लोगों के व्यर्थ जानेवाले दिनों का स्मरण करूँगा, जो धनवानों के निवास पर याचना करते हुए कष्ट भोगने रहते हैं और भोग्य विषयों का संग्रह करने में अनेकानेक हीनताओं को स्वीकार करते हैं।

ये सन्तोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो
ये त्वन्ये धनलुब्धसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता।
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना कीदृक् पदं संपदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुन्न मे रोचते ॥

अर्थ – जो भी मिल जाय, उसी में सन्तोष रखनेवालों का आनन्द कभी नष्ट नहीं होता और धन के लोभ से व्याकुल चित्तवालों की भोगतृष्णा कभी दूर नहीं होती। (बल्कि दिन-पर-दिन इनमें वृद्धि होती जाती है।) ऐसी हालत में विधाता ने किसके लिए अमित धन-सम्पदा के आगार मेरु पर्वत का निर्माण किया? इसका स्वर्ण केवल अपने आपको ही महिमान्वित करता है (सन्तोषी तथा लोभी – दोनों को ही कोई लाभ नहीं पहुँचाता)। ऐसा मेरु पर्वत भी मुझे तो बिल्कुल नहीं रुचता।

– भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, २८-२९

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

— १ —

(जैजैवन्ती - त्रिताल)

रामकृष्ण भजिए, साधो, रामकृष्ण भजिए।
जनम-मरण दुख-द्वन्द्व दोषमय, यह संसार असार समझिए ॥

विषयभोग की झूठी आशा, सुख-सम्पद की अमिट पिपासा,
बन्धन सारे इस जीवन के, तृण समान तजिए ॥ साधो. ॥

अन्तर का आनन्दराशि तज, बिसराकर सच्चित् स्वरूप निज,
कष्ट उठाते पग पग पर नित, क्यों इस भाँति जिए ॥ साधो. ॥

आए दीनबन्धु करुणामय, हरते शोक मोह भय संशय,
लेकर शरण चरण-शतदल की, नित विदेह भजिए ॥ साधो. ॥

— २ —

ठाकुर अब तो खोलो द्वार ।
आया हूँ मैं निलय तुम्हारे, छोड़ जगत के विषय असार ॥

क्षण क्षण बदल रहा यह जीवन, नश्वर सब धन-यौवन-परिजन,
पाकर इन्हें तुम्हें खोया था, बद्ध हुआ ज्यों कारागार ॥

खड़ा हृदय में आशा लेकर, होगी कृपा कभी तो हम पर,
अब विलम्ब क्यों करते स्वामी, दूर करो मेरा दुखभार ॥

बाहर फैला अन्धकार भय, भीतर तुम बैठे ज्योतिर्मय,
दूर करो आवरण बीच का, दिखला दो अभिनव संसार ॥

— विदेह

(श्रीमती सरला घोषाल को लिखित)

बेलूड मठ,
१६ अप्रैल, १८९९

श्रीमतीजी,

आपका कृपापत्र पाकर मुझे अति हर्ष हुआ । यदि किसी ऐसे विषय के त्याग से जिससे मुझे या मेरे गुरुभाइयों को विशेष प्रेम है, अनेक सच्चे और शुद्धचित्त देशभक्त हमारे कार्य में आकर सहायता करेंगे, तो विश्वास रखिये कि हम ऐसे त्याग से तनिक भी न झिझकेंगे, आँसू की एक भी बूँद न बहायेंगे – और यह हम अपने व्यवहार में चरितार्थ कर दिखा सकते हैं । परन्तु अभी तक ऐसे किसी व्यक्ति को सहायता करने के लिए अग्रसर होते हुए मैंने नहीं देखा । मात्र कुछ लोगों ने अपने प्रिय शौक को हमारे कार्य से बदलने का प्रयत्न किया है – बस, इतना ही है । यदि हमारे देश की अथवा मनुष्य-जाति की वास्तविक सहायता होती हो तो गुरुपूजा त्यागने की क्या बात, हम कोई भी घोर पाप करने को, यहाँ तक कि ईसाइयो की 'अनन्तकाल तक नरकयातना' भोगने को भी तैयार हैं । परन्तु मनुष्य का अध्ययन करते-करते मेरे सिर के बाल सफेद हो गये हैं । यह संसार एक अत्यन्त दु:खप्रद स्थान है । बहुत दिनों से एक ग्रीक दार्शनिक के समान दीपक हाथ में लेकर मैंने घूमना आरम्भ कर दिया है । एक सर्वप्रिय गीत जो मेरे गुरु बहुधा गाते थे मुझे इस समय याद आ रहा है –

दिल जिससे मिलता है,
वह जन अपने नयनों से परिचय देता है ।
हैं तो ऐसे दो-एक जन,
जो करते विचरण,
जग की अनजानी राहों पर ।

इतना ही कहना है । कृपया यह जानिये कि इसमें एक शब्द की भी अतिशियोक्ति नहीं है – आप भी इसे जीवन की वास्तविकता के रूप में पायेंगी ।

परन्तु मुझे उन देशभक्तों पर कुछ सन्देह है, जो हमारा साथ तभी देने को तैयार हैं, जब हम अपनी गुरु-पूजा त्याग दें । अच्छा, यदि वे अपने देश की सेवा में सचमुच इतना उद्योग और परिश्रम कर रहे हैं कि प्राय: मृतप्राय से हुए जाते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि सिर्फ गुरुपूजा की ही एक समस्या से उनका सारा काम कैसे रुक जाता है? ...

क्या वह प्रबल तरंगशालिनी नदी, जिसके वेग से मानो पहाड़, पर्वत बहे जा रहे थे, गुरुपूजा मात्र से हिमालय की ओर लौटायी जा सकती है? क्या आप समझती हैं कि इस

प्रकार की स्वदेश-भक्ति से कोई महान कार्य सिद्ध हो सकता है या इस तरह की सहायता से कोई विशेष उपकार हो सकता है? शायद आप ही इसको समझती हों! मैं तो कुछ नहीं समझता। एक प्यासे को इतना जल-विचार, भूख से मृतप्राय व्यक्ति का यह अन्न-विचार और ऐसे नाक-भौंह सिकोड़ना! मुझे ऐसा लगता है कि वे लोग 'काँच के फ्रेम' के अन्दर रखने योग्य हैं; कार्य के समय वे लोग जितना ही पीछे रहें, उतना ही उनका कल्याण है।

प्रीत न माने जात-कुजात।
भूख न माने बासी भात।।

किन्तु इसमें सब मेरी भूल हो सकती है। यदि गुरुपूजा रूपी गुठली के गले में फँसने से सब मरने लगें, तो यही अच्छा है कि गुठली को ही छोड़ दिया जाय।

खैर, इस विषय पर विस्तारपूर्वक आपसे चर्चा करने की मेरी अत्यन्त अभिलाषा है। ये सब बातें करने के लिए रोग, शोक एवं मृत्यु ने मुझको अब तक अवसर दिया है – एवं विश्वास है कि वे आगे भी देंगे।

इस नववर्ष में आपकी सारी कामनाएँ पूर्ण हों।

किमधिकमिति,

विवेकानन्द

– २ –

रिजले मैनर,
१ नवम्बर १८९९

प्रिय मार्गट,

ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो तुम्हारे हृदय में किसी प्रकार का विषाद हो। घबड़ाओ मत, कोई भी चीज चिरस्थायी नहीं हैं। जो भी हो, जीवन तो अनन्त नहीं है। मैं इसके लिए अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। संसार में जो लोग सर्वश्रेष्ठ और परम साहसी होते हैं, उनके भाग्य में कष्ट ही लिखा होता है; किन्तु यद्यपि उसका प्रतिकार सम्भव है, फिर भी जब तक ऐसा न हो तब तक के लिए इस प्रकार की घटना भावी अनेक युगों तक कम-से-कम स्वप्न दूर करने की शिक्षा के रूप में भी ग्रहण करने योग्य है। मैं तो स्वाभाविक दशा में अपनी वेदना-पीड़ाओं को आनन्द के साथ ग्रहण करता हूँ। इस जगत में किसी- न-किसी को दु:ख उठाना ही पड़ेगा; मुझे खुशी है कि प्रकृति के सम्मुख बलि के रूप में जिनको उपस्थित किया गया है, उनमें एक मैं भी हूँ।

तुम्हारा,

विवेकानन्द

मनुष्य की तीन श्रेणियाँ

स्वामी आत्मानन्द

एक प्रश्न मुझसे बारम्बार पूछा जाता है कि क्या नरक-स्वर्ग की धारणा पूरी तरह काल्पनिक नहीं हैं? और यदि है तो क्या नरक और पाप का डर दिखाकर मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना उचित है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि विचारों की भिन्नता के कारण, बुद्धि की धारणा-शक्ति की अधिकता या न्यूनता के कारण मनुष्यों की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। कुछ लोग मानसिक विकास की दृष्टि से बालक के समान होते हैं, तो कुछ लोग प्रौढ़। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उसके अनुरूप व्यवस्था करनी होती है।

मोटे तौर पर हम मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो वे हैं, जो इस संसार को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। यह दृश्यमान जगत् ही उनके लिए सब कुछ है। ये लोग भौतिकवादी और इन्द्रियपरायण होते हैं। खाना, पीना और मौज उड़ाना ही उनका लक्ष्य होता है। Enjoyment, Exitement and Exhaustion यानी भोग, उत्तेजना और अवसाद के चक्र में पड़कर ये लोग उचित और अनुचित का विवेक खो बैठते हैं तथा उच्छृंखल और पशुवत् हो जाते हैं। ऐसे लोगों में पाप-पुण्य का कोई बोध नहीं होता। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ये कुछ भी कर सकते हैं। ऐसे विवेकहीन मानव-पशुओं से समाज की रक्षा करने के लिए डण्डे का उपयोग लाभप्रद सिद्ध होता है।

इसके कुछ ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मन केवल देह के स्तर पर नहीं जीता, बल्कि वैचारिक आदर्श में आस्था रखता है। उसे यह विश्व आकस्मिकता या दुर्घटना से उत्पन्न एक लक्ष्यहीन भटकाव नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह इस ससार में एक अदृश्य नियामक शक्ति को अनुस्यूत देखता है, जिसे वह ईश्वर के नाम से पुकारता है। यह व्यक्ति विश्वास करता है कि अशुभ क्रियाओं का फल अशुभ होता है और शुभ क्रियाओं का फल शुभ। इसलिए स्वर्ग और नरक पर विश्वास करता है और मानता है कि पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा पाप के फल से नरक की। स्वर्ग वह है, जहाँ सुख की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कल्पना होती और नरक वह है, जहाँ दुख की बीभत्स-से-बीभत्स कल्पना मूर्त रूप धारण करती हो। मनुष्य की यह दूसरी श्रेणी पाप और नरक के डर से कुमार्ग पर कदम डालने में हिचकती है। इन लोगों के लिए ईश्वर एक न्यायी राजा के समान है, जो सत्कर्मों के लिए पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिए दण्ड प्रदान करता है। मानव-समाज के बृहत्तर अंश के लिए पाप-पुण्य की यह कल्पना लाभदायक सिद्ध होती है।

इससे ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य पाप-पुण्य की भावना से प्रेरित होकर क्रियाएँ नहीं करता, जो ईश्वर को एक न्यायी राजा के समान नहीं देखता, बल्कि उसे अन्तर्यामी सत्य के रूप में स्वीकार करता है और ऐसा मानता है कि यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड अटल और अपरिवर्तनशील नियमों द्वारा धारित है। ये नियम ही 'ऋत' और 'सत्य' के नाम से

पुकारे गये हैं। इस तीसरी श्रेणी में अत्यन्त विरले लोग होते हैं। इनके जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर सत्य को शोधन होता है। ऐसे ही व्यक्ति सत्यद्रष्टा बनकर 'ऋषि' के नाम से पूजित होते हैं। सारी मानव-जाति को 'ऋषि' की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा देना ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। पर इस गन्तव्य पर पहुँचने के लिए हमें प्रथम दो श्रेणियों में से गुजरना होता है। एक छोटा बच्चा जब चलना सीख जाता है, तो तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेता है। जब वह चलना सीख जाता है, तो उसे फिर किसी सहारे की जरूरत नहीं होती। पर इसका मतलब यह नहीं कि तीन पैर की गाड़ी निरर्थक हो गयी। उसकी उपयोगिता है। दिशाएँ कल्पित हैं। अक्षांश और देशान्तर कोई ऐसी रेखाएँ नहीं जो दुनिया में कहीं खिची हों, वे पूरी तरह से काल्पनिक है। पर इन काल्पनिक दिशाओं से हमें ठोस लाभ मिलता है। हम उनके सहारे हवा में उड़कर या पानी में तैरकर अपने गन्तव्य को पहुँच जाते हैं। हम ऊँट पर रेगिस्तान को पार करके सही स्थान को पा लेते हैं। यह कल्पना की व्यावहारिक उपयोगिता है। ठीक इसी प्रकार भले ही स्वर्ग और नरक की धारणा काल्पनिक हो, पर उससे व्यावहारिक जीवन में ठोस लाभ मिलता है। एक श्रेणी के मनुष्यों को मर्यादा में बाँधकर रखने के लिए जैसे पुलिस के डण्डे की जरूरत है, वैसे ही दूसरी श्रेणी के लोगों को नैतिक मर्यादा में बनाए रखने के लिए पाप या नरक के डर का प्रयोजन है। यह पाप का डर पुलिस के भय की अपेक्षा अधिक कारगर सिद्ध होता है। इस पाप के भय का शिथिल हो जाना ही हमारी समस्याओं के उलझाव का प्रमुख कारण है। □

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – स.)

इस अध्याय में अग्रहायण की पूर्णिमा तथा संक्रान्ति का दिन वर्णित है। मास्टर महाशय आकर ठाकुर को प्रणाम करते हैं। ठाकुर कहते हैं, "आज अच्छा दिन है।" तिथि की दृष्टि से तो अच्छा है ही, साथ ही मास्टर महाशय एक शुभ संकल्प लेकर आए हैं, इसलिए भी अच्छा दिन है। मास्टर महाशय ठाकुर के पास रहकर कुछ दिन साधना करेंगे। ठाकुर ने कहा है – साधना आरम्भ करने पर क्रमश: किस मार्ग पर बढ़ना होगा, यह अन्त:करण से वे (ईश्वर) ही बतला देते हैं। ठाकुर ने उन्हें साधु तथा कंगालों के लिये अतिथिशाला में बननेवाला अन्न ग्रहण करने से भी मना किया था, इसलिए वे अपने साथ एक आदमी लाए हैं। ठाकुर भी उनकी सारी व्यवस्था कर दे रहे हैं।

कर्म के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "ऐसी बात नहीं कि कर्म बराबर करते ही जाना पड़े। ईश्वरलाभ हो जाने पर कर्म फिर नहीं रह जाते। फल होने पर फूल स्वयं ही झड़ जाते हैं।" इसी तरह कर्म करते करते जब मनुष्य शान्त हो जाता है, तब कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह कब होगा? ठाकुर कहते हैं, "संध्यादि कर्म कब तक हैं! – जब तक हरिनाम या रामनाम में पुलक न हो, अश्रुधारा न बहे।" रामप्रसाद के एक भजन में है – (भावार्थ) "जो तीनों सन्धियों के समय काली का नाम लेता है, वह क्या संध्या-पूजादि चाहता है? सन्ध्या स्वयं उसकी खोज में फिरती रहती है, पर उससे मिल नहीं पाती!" तब और सन्ध्या-वन्दना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

कौन सा कर्म अच्छा है – इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि सकाम कर्म अच्छा नहीं है। कहते हैं कि जो कर्म भगवान की ओर ले जाए, वही अच्छा है और जो भगवान से दूर कर दे, वह कर्म बुरा है। अच्छे-बुरे कर्म के विचार के लिए यही एक मानदण्ड है। केशव सेन का प्रसंग उठाकर एक भक्त कहते हैं, "केशव सेन को ही देखिये, किस तरह महाराजा के साथ उन्होंने अपनी लड़की का विवाह किया।" ब्राह्मसमाज में उन दिनों इसी बात को लेकर उनकी निन्दा हो रही थी। पर ठाकुर केशव की निन्दा सहन न कर पाने के कारण कहते हैं, "केशव की बात दूसरी है। जो यथार्थ भक्त है वह अगर चेष्टा न भी करे तो ईश्वर उनके लिए सब कुछ जुटा देते हैं।" अर्थात केशव ठीक ठीक भक्त हैं, इसलिए स्वयं परमेश्वर ने ही 'उनके लिए' इस तरह के अनुकूल परिवेश की सृष्टि कर दी है।

इसके बाद आचार-नियमों के प्रसंग में वे कहते हैं कि मनुष्य के मन में जब तक कामना

रहती है, तभी तक इन आचार-नियमों की आवश्यकता रहती है । जिसमें कोई कामना नहीं है, ऐसा सद्ब्राह्मण किसी के भी घर से भिक्षा ले सकता है, उसमें कोई दोष नहीं होता ।

संसार में किस तरह रहना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर वचनामृत में अनेक स्थानों पर है और इस पर कई बार चर्चा हुई है । ठाकुर बोले, "पाँकाल मछली की तरह रहना चाहिए ।" अर्थात अनासक्त होकर रहने से देह पर संसार की मलिनता नहीं लगती । तथापि पहले अनासक्ति का अभ्यास करना पड़ता है । भगवान की भक्ति होने पर ही अनासक्त हुआ जाता है । इसलिए संसार में प्रवेश करने से पहले अपने आपको तैयार करना पड़ता है ।

नारी-जाति आद्याशक्ति का रूप है

मास्टर महाशय साधना करने के लिए आए हुए हैं, इसलिए उनको उत्साहित करने के लिए ठाकुर कहते हैं, "तीव्र वैराग्य होने से लोग ईश्वर को पाते हैं । इस तरह का वैराग्य जब होता है तब घर-द्वार आप ही छूट जाता है । ... कामिनी-कांचन यही माया है । माया को यदि पहचान सको, तो वह स्वयं लज्जा से भाग खड़ी होगी ।" इस माया को जब तक हम नहीं पहचानते, तभी तक वह हमें घेरती है । पहचान लेने पर लज्जित होकर भाग जाती है । कामिनी-कांचन के स्वरूप को समझ पाने पर फिर ये अभिभूत नहीं कर सकते । साधना के समय इस कामिनी-कांचन को दूर हटाकर रखना पड़ता है, किन्तु उससे घृणा नहीं करना चाहिए । दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन लाना होगा । ठाकुर कहते हैं, "जितनी स्त्रियाँ हैं, सब शक्ति-स्वरूपिणी हैं । वे आदिशक्ति ही स्त्री का रूप धारण किये हुए हैं । ... मन में लाने मात्र से ही त्याग नहीं किया जा सकता । प्रारब्ध, संस्कार, ये सभी हैं ।" इसके अतिरिक्त एक बात विशेष रूप से याद रखना होगा कि बन्धन की सृष्टि कोई और नहीं, हम स्वयं ही करते हैं । इसलिए एक के लिए जो परिवेश अनुकूल लगता है, वहीं दूसरे के लिए प्रतिकूल हो जाता है । यह सब मन की प्रतिक्रिया के ऊपर निर्भर करता है ।

बातचीत के दौरान ठाकुर ने कर्ताभजा सम्प्रदाय का प्रसंग उठाया । इसको भी साधन-पथ के रूप में स्वीकार करने के बावजूद भी वे अपने शिष्यों को इस पथ पर चलने से मना करते हैं । उन्होंने कहा, "स्त्रीभाव से शीघ्र पतन होता है । मातृभाव शुद्ध भाव है ।" फिर उस विषय में भी चेता देते हैं । कहते हैं कि साधु को सावधान रहना चाहिए ।

वस्तुत: साधना-पथ में कितनी सतर्कता की आवश्यकता है, यह तो केवल साधना के पथिक ही जानते हैं । बार बार स्वयं का विश्लेषण करके देखना पड़ता है । ठाकुर ने कहा है कि जैसे सभी जल पीने के उपयुक्त नहीं होते, वैसे ही सभी रास्ते सभी के लिए ग्रहणीय नहीं होते । जो रास्ता अन्त में मंगलमय हो, उसी से चलना अच्छा है ।

साधना का प्राथमिक स्तर – प्रतिमा-पूजा

इसके बाद ठाकुर प्रतिमा-पूजा के विषय में बोले । सम्भवत: उनके पास आये शिक्षक महोदय ने इस विषय में प्रश्न किया था । उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "मूर्तिपूजन में दोष क्या है? वेदान्त में है, जहाँ भी 'अस्ति, भाति और प्रिय' है, वहीं उनका प्रकाश है, इसलिए उनके सिवाय और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है ।" वे एक दृष्टान्त देकर कहते हैं, "और देखो, छोटी छोटी लड़कियाँ कितने दिन गुड़ियाँ लेकर खेलती हैं? तभी तक, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता और पति-सहवास नहीं करतीं । विवाह हो जाने के

उपरान्त वे गुड्डों-गुड़ियों को उठाकर सन्दूक में रख देती हैं । ईश्वरलाभ के बाद मूर्तिपूजन की फिर क्या आवश्यकता है?" तुलसीदास जी का एक दोहा है –

तुलसी जप तप कीजिए, सब गुड़ियों का खेल ।
प्रियतम से जब मिलन हो, राख पिटारी मेल ।।

जप-तप चाहे जो करो, सब गुड़ियों का खेल हैं; जब स्वामी से मिलन हो जाता है, तब इन्हें उठाकर पिटारी में रख दिया जाता है । इसी प्रकार जब भगवान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, तब प्रतिमा-पूजा की आवश्यकता नहीं रह जाती । जो निर्गुण-निराकार हैं, उनकी हम कल्पना नहीं कर पाते, इसलिए एक आधार की आवश्यकता होती है । इसी कारण प्रतिमा में उनकी भावना करके, हम उन्हीं की पूजा किया करते हैं ।

परवर्ती स्तर – विश्वास, अनुराग और तीव्र व्याकुलता

उसके बाद वे मास्टर महाशय की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "अनुराग होने पर ईश्वर मिलते हैं । खूब व्याकुलता होनी चाहिए । खूब व्याकुलता होने पर सम्पूर्ण मन उन्हें अर्पित हो जाता है ।" इसके बाद विश्वास के प्रसंग में वे कहते हैं कि विश्वास के बल पर विधवा बालिका ने साक्षात गोविन्द को पति के रूप में पाया था । ठाकुर यहाँ तीन दृष्टान्त देते हैं – जटिल नामक एक बालक ने सरल विश्वास के बल पर मधुसूदन दादा को साक्षात रूप में पाया । वैसे ही एक ब्राह्मण के छोटे बालक के आकुल क्रन्दन से ठाकुरजी प्रकट हुए बिना न रह सके । अत: बुद्धि की सहायता से उन पर विचार करके उनका स्वरूप समझना असम्भव है । वे हैं – ऐसा विश्वास लेकर यदि उनका चिन्तन किया जाय, तो उनका दर्शन होना है । **अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति** – अर्थात जो 'अस्ति' इस प्रकार उनको जानते हैं, उनके सामने उनका स्वरूप प्रकाशित होता है । विश्वास के बल पर कितने ही असाध्य-साधन सम्भव हो जाते हैं, इसके ठाकुर ने अनेक दृष्टान्त दिये हैं ।

मास्टर महाशय का कविसुलभ स्वभाव था । इसलिए वे दक्षिणेश्वर में निवास करने के लिए नौबतखाने के ऊपर का कमरा पसन्द करते हैं । परन्तु ठाकुर देखते हैं कि किस स्थान का माहात्म्य ज्यादा है । अत: वे बोले, "पंचवटीवाला कमरा इसलिए कह रहा हूँ कि वहाँ बहुत रामनाम और ईश्वरचिन्तन किया गया है ।" पंचवटीवाले कमरे में हरिनाम, कीर्तन, भगवच्चिन्तन, आदि बहुत हुआ है, इसलिए वह साधना के लिए अधिक उपयुक्त है ।

साधना के प्रसंग में ठाकुर कहते हैं, "उन पर भक्ति करना, उनसे प्यार करना – यही असल बात है ।" सामान्यत: हम विविध प्रकार के अनुष्ठान, जप, तप आदि को ही साधना समझते हैं । परन्तु ठाकुर कहते हैं कि साधना का अर्थ है उनसे प्रेम करना । इन जप-ध्यान तथा शारीरिक कठोरताओं के फलस्वरूप यदि उनसे प्रेम बढ़े, तभी ये सब सार्थक हैं, नहीं तो ये सभी राख में घी डालने जैसा हो जाता है । यद्यपि ये साधनाएँ पूरी तौर से बेकार नहीं जातीं, तथापि इनके सार्थक होने पर जो फल मिलता, उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती । भगवान से प्रेम होने पर तो उनका दर्शन भी गौण बात हो जाती है । यह प्रेम अथवा अनुराग हुए बिना उनके प्रति अपनत्व का बोध भी नहीं होता और उनका दर्शन होने पर भी उस दर्शन से आनन्द की उपलब्धि नहीं होती ।

इसलिए ठाकुर कहते हैं कि उनके लिए तीव्र व्याकुलता चाहिए । उन्हें पूरे अन्त:करण से चाहना ही बड़ी बात है । कहते हैं कि पाने की अपेक्षा चाहना ही बड़ी बात है । परम

विरागी वैष्णव भक्तगण कीर्तन के समय विरह-वियोग की कथा सुनते हैं, मिलन की नहीं सुनते, क्योंकि वे भगवान के लिए इस विरहाकुल भाव को हृदय में जगाए रखना पसन्द करते हैं। साधना का रहस्य ही यही है कि उन्हें हृदय से चाहना होगा। एक भजन में कहा गया है – यह हरिनाम लेते लेते ही हृदय में प्रेम का मुकुल खिल उठेगा। अर्थात नाम लेते लेते हृदय में उनके लिए प्रेम का उन्मेष होगा। भागवत में कहा गया है – **भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रति उत्पुलकां तनुम्** – भक्ति के द्वारा भक्ति उत्पन्न होगी, तब उस भक्ति के लक्षणरूप शरीर में शास्त्रकथित प्रेम, रोमांच, स्वेद, पुलक, अश्रु आदि सात्त्विक विकार प्रकट होंगे। ठाकुर कहते हैं, "व्याकुलता होने पर समझना चाहिए कि अरुणोदय हुआ। इसके बाद सूर्योदय होगा ही। इस व्याकुलता के बाद ही ईश्वरदर्शन होता है।"

एक भजन में कहा गया है – "बीच बीच में तुम्हारा दर्शन पाता हूँ, निरन्तर क्यों नहीं पाता? एक दिन इसे सुनकर महापुरुष महाराज ने कहा था, "क्या हमने उनको निरन्तर चाहा है, जो निरन्तर उनका दर्शन पाएँगे?" उनका दर्शन यदि क्षण भर के लिए भी मिलता है, तो उसी से हमारा हृदय-मन भर उठता है। जैसे छोटा शिशु माँ को छोड़कर नहीं रह पाता, वैसे ही जब हमारा मन भी उनके बिना रह नहीं सकेगा, जब हम उन्हें इतना चाहने लगेंगे कि वे हमारे लिए एकदम अपरिहार्य हो उठें, तो वे हमसे भला दूर कैसे रह सकेंगे? साधना के इसी मर्म को समझना होगा। श्रीकृष्ण आ रहे हैं, गोपियाँ उन्हें अपलक देख रही हैं और कहती हैं – निर्बुद्धि विधाता ने हमारी आँखों पर पलकें क्यों बनायीं? पलकों के झपकने तक का विरह वे नहीं सह पा रही हैं। भागवत में कहा है – **त्रुटि युगायते त्वां अपश्यताम्** – उनको देखे बिना एक क्षण भी युग जैसा लगता है।

इसी तरह का तीव्र अनुराग चाहिए। मीराबाई भी अपने एक पद में कहती हैं – **बिना प्रेम के मिले न नन्दलाला**। प्रेम के बिना प्रभु नहीं मिलते। ठाकुर स्वयं अपना दृष्टान्त देकर बता रहे हैं – जगन्माता के लिए वे कितने कातर भाव से, कितने आर्त भाव से और कितने करुण भाव से रोते थे। मुख को भूमि पर रगड़ डालते थे। चेहरे से खून बहता रहता और 'माँ, माँ' कहकर रोते रहते। चैतन्यदेव के जीवन में भी कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण के लिए वे अत्यन्त आर्त भाव से पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं – ये सारे दृष्टान्त यही दिखाने के लिए हैं कि कैसी व्याकुलता होने पर भगवान मिलते हैं, किस प्रकार की साधना के द्वारा हम उस परम वस्तु को पा सकेंगे। ये लोग अपने जीवन के द्वारा दिखाते हैं कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? अतः जब तक जप-तप आदि के द्वारा भगवान के प्रति प्रेम न उत्पन्न हो, तब तक साधक को समझना होगा कि अभी भी हम भगवान से बहुत दूर हैं। मन में कहीं यह सन्तोष न आ जाय कि मैंने बहुत जप-तप कर लिया। साधना के वास्तविक फल की ओर ठाकुर हमारी दृष्टि को आकर्षित कर रहे हैं।

□(क्रमशः)□
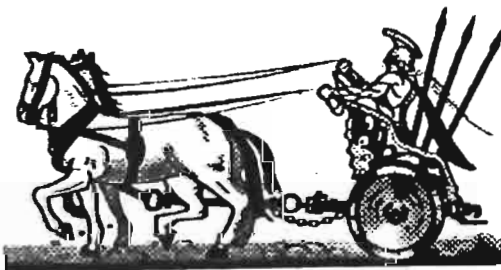
मानस-रोग (३३/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तैंतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

बालकाण्ड में श्रीसीताजी को पाना और दण्डकारण्य में खोना भी केवल भौतिक दृष्टि से दिखाई दे रहा है। इसीलिए गोस्वामीजी सीताहरण के प्रसंग में भगवान राम के विरह का वर्णन करते हुए एक शब्द जोड़ देते हैं। भगवान राम सीताजी के वियोग में बड़े दुखी हैं। उनकी आँखों में आँसू हैं। किसी ने गोस्वामीजी से पूछ लिया कि आप इन्हें ईश्वर बता रहे थे, क्या आपके ईश्वर ऐसे ही हैं?

बिरही इव प्रभु करत बिषादा। ३/३७/२

वस्तुतः यह विषाद भगवान राम में नहीं है। वे तो अभिनय दिखा रहे हैं कि संसारी व्यक्ति विषाद में किस तरह रोता है? इसके पीछे उद्देश्य क्या है? स्वयं में तो विरह-विषाद नहीं है, तो फिर संसारी व्यक्ति के विषाद का अभिनय करके दिखाने का अभिप्राय क्या है? भगवान शंकर ने पार्वतीजी का ध्यान इसी ओर आकृष्ट किया। उन्होंने कहा, "हे पार्वती! ईश्वर में न तो योग है और न वियोग।"

कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें।। १/४९/८

जिनमें योग और वियोग दोनों का अभाव है, उन्हें जब हमने स्थूल दृष्टि से देखा तो उनमें हमें प्रत्यक्ष रूप से सुख-दुख दिखाई दिया। इसका तात्पर्य क्या है? जो तत्त्वतः हर्ष और विषाद से मुक्त है, वह जब नरलीला स्वीकार करता है, हर्ष और विषाद को स्वीकार करता है, तो इसके पीछे उद्देश्य है लोककल्याण, मनुष्य को चरित्र की शिक्षा देना। ईश्वर में हर्ष का कोई कारण नहीं है, इसलिए उसमें विषाद भी नहीं है; पर मनुष्य के जीवन में हर्ष की स्वीकृति है इसलिए विषाद भी है। मनुष्य की इस समस्या और इसके समाधान को भगवान जब तक अपने चरित्र के माध्यम से प्रत्यक्ष नहीं दिखा देंगे, तब तक मनुष्य का कल्याण नहीं होगा। इसीलिए वे अवतरित होकर नरलीला करते हैं और एक साधारण मनुष्य के समान अपने चरित्र में हर्ष भी स्वीकार करते हैं और हर्ष के परिणाम-स्वरूप विषाद भी स्वीकार करते हैं। भगवान श्रीराघवेन्द्र मानो अपने चरित्र के माध्यम से यह स्पष्ट कर देते हैं कि मैं भी अगर हर्ष स्वीकार करूँ तो मुझे भी विषाद स्वीकार करना पड़ेगा। एक की स्वीकृति के साथ दूसरे की स्वीकृति अनिवार्य है। भगवान अपने नरनाट्य के माध्यम से इस सत्य को हमारे सामने रख देते हैं कि किस परिस्थिति में हमारे अन्तःकरण में हर्ष होता है और किस परिस्थिति में विषाद। दोनों किस तरह से एक दूसरे जुड़े हुए, अभिन्न हैं।

यह जो हर्ष और विषाद के विविध पक्ष भगवान राम के चरित्र में दिखाई देते हैं, उसके लिए एक सूत्र मैं आपके सामने रख दूँ। यहाँ पर कागभुशुण्डिजी ने हर्ष और विषाद दोनों को रोग बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हमारे जीवन में हर्ष है तो भी हम अस्वस्थ हैं और विषाद है तो भी। पुराणों में आतापी और बातापी की जो गाथा है, उसमें हर्ष और विषाद की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या हुई है। यह किस प्रकार से मनुष्य के जीवन में आता है और उसे नष्ट कर देता है, इसका सबसे सुन्दर संकेत इस गाथा में है। 'मानस' में अनेक महापुरुषों की गाथाएँ हैं किन्तु उनमें महर्षि अगस्त्य का स्थान बड़ा विलक्षण है। अनेक दृष्टियों से उनका चरित्र अद्वितीय है। हम सबके मन में उठनेवाली समस्याओं में से बहुतों का समाधान सांकेतिक भाषा में अगस्त्यजी के चरित्र के माध्यम से पुराणों तथा 'मानस' में दिया गया है। सबसे पहले तो रामायण में अगस्त्यजी का महत्व हमारे सामने इसी रूप में आता है कि भगवान शकर जो स्वयं रामकथा के रचयिता हैं, वे रामकथा सुनने महर्षि अगस्त्य के पास आते हैं। रामायण के प्रारम्भ में ही ऐसा वर्णन आता है –

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं।। १/४८/१

आप देखेंगे कि अगस्त्यजी के जीवन में तीन प्रकार की समस्याएँ आती हैं। महर्षि अगस्त्य अपने चरित्र के माध्यम से उन तीनों प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके सामने एक समस्या तो समुद्र के द्वारा उत्पन्न की गई। समुद्र बहुत गहरा है। गहराई भी कभी कभी समस्या बन जाती है। समुद्र की गहराई एक समस्या है। इस समुद्र की गहराई से जो संकट उत्पन्न हुआ, इसका भी समाधान अगस्त्यजी के द्वारा दिया गया। दूसरी ओर ऊँचाई ने एक समस्या उत्पन्न कर दी। ऊँचाई और गहराई दोनों ही अच्छी है, परन्तु समुद्र की गहराई और विन्धाचल की ऊँचाई तो समस्या बन जाती है, समाज में संकट उत्पन्न कर देती है। समाज के सामने ऐसा संकट आने पर अगस्त्यजी सामने आए। तीसरी समस्या दण्डकारण्य की है। महर्षि अगस्त्य दण्डकारण्य की ओर गये और वहीं निवास करने लगे। वहाँ एक अनोखी समस्या आई। दण्डकारण्य की भूमि में राक्षस निवास करते हैं। इस समस्या का समाधान भी अगस्त्य-चरित्र के माध्यम से दिया गया। इस कथा का मुख्य तात्पर्य यह है कि महर्षि अगस्त्य ने ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के मार्ग में आनेवाली समस्याओं का समाधान दिया। उनके जीवन में इन तीनों की पूर्णता है।

महर्षि अगस्त्य का परिचय बड़ा अनोखा है। जिस समय भगवान शंकर ने सतीजी से कहा कि वे कथा सुनने जा रहे हैं तो सतीजी ने पूछ लिया कि वे किससे कथा सुनने जा रहे हैं? शंकरजी ने मुस्कराकर कहा – कुम्भज से। सुनकर सतीजी चकित हो गईं। कुम्भज अर्थात जिसका जन्म घड़े से हुआ हो। उनका यह नाम बड़ा विचित्र-सा और विरोधाभासी लगता है। जिन्होंने समुद्र को पी लिया, उन्हें कहते हैं कि वे घड़े के बेटे हैं – इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है? पहले तो समुद्र घड़े में समा नहीं सकता, फिर उसके बेटे के पेट में कैसे समा गया? लेकिन अलग अलग सन्दर्भ में इसका अर्थ भी अलग अलग है। सतीजी ने कहा – आप और कुम्भज से, एक घड़े के बेटे से कथा सुनने जा रहे हैं? उत्तर में शकरजी ने कहा कि रामकथा तो अगाध समुद्र है और कथावाचक तो वही हो

सकता है जो समुद्र को घड़े में ला सके। कथावाचक क्या करता है? अनन्तविस्तार ईश्वर को अपने घट में ले आता है। इसलिए कुम्भज से श्रेष्ठ कथावाचक और कहाँ मिलेगा? यदि ज्ञान की दृष्टि से विचार करके देखें तो कुम्भज शब्द का तात्पर्य क्या है? यह कुम्भ क्या है? इस शरीर की तुलना घड़े से की गई है। घड़ा भी मिट्टी का बना हुआ है और यह शरीर भी।

इस सन्दर्भ में मुझे मलिक मोहम्मद जायसी की बात याद आ जाती है। वे दिखने में बड़े कुरूप थे। एक बार वे राजदरबार में गये, तो सभा में बैठे लोग उनकी कुरूपता पर मुँह दबाकर हँसने लगे। उनकी एक आँख नहीं थी और मुख पर चेचक के दाग थे। उन्होंने लोगों को मुँह दबाकर हँसते देख लिया। उन्होंने तुरन्त उन हँसनेवालों से पूछा – आप लोग किस पर हँस रहे हैं? लोगों की हँसी बन्द हो गई, घबरा गये, महापुरुष हैं, क्रोध में कहीं कोई शाप न दे दें। पर उन्होंने किसी को शाप नहीं दिया, बल्कि हँसते हुए उनसे पूछा – **मो पर हँससि कि हँससि कोहरहि** – मुझ पर हँस रहे हैं या कुम्हार पर? घड़े की कुरूपता को देखकर घड़े पर हँसी आ रही है या इस घड़े के निर्माणकर्ता कुम्हार पर? लगता है कि आप लोग केवल घड़ा ही देख रहे हैं, घड़े को बनानेवाले की ओर आपकी दृष्टि नहीं है। यद्यपि घड़ा बनानेवाला प्रत्यक्ष नहीं है, पर यह घड़ा तो प्रत्यक्ष है, जिसका हम उपयोग कर रहे हैं। एक बुद्धिमान व्यक्ति इस तर्क और युक्ति के द्वारा घड़ा बनानेवाले को सिद्ध कर सकता है, क्योंकि इस जगत में प्रत्येक वस्तु का निमित्त और उपादान कारण है। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार है। उसी प्रकार इस शरीर रूपी घट का भी एक निमित्त है, जिसे ईश्वर कहते हैं। इसी आधार पर ईश्वर की सिद्धि के लिए तर्क प्रस्तुत किया जाता है। जैसे घड़े को देखकर हमें उसके उपादान कारण मिट्टी और निर्माता कुम्हार की याद आ जाती है, उसी प्रकार इस शरीर को देखकर इसके निर्माता की याद आ जाती है। यह मिट्टी का बना हुआ नाशवान शरीर निन्दनीय है, यह दृष्टि ठीक नहीं। वस्तुतः यह शरीर तो ईश्वर का स्मरण दिलानेवाला है, हमें ईश्वरत्व से जोड़नेवाला है। इस सन्दर्भ में मुझे स्मरण हो आ रहा है; अभी कुछ दिनों पूर्व जब मैं कानपुर में था तो एक बड़ी विचित्र-सी स्थिति आ गई। वह मनोरंजक भी थी और अटपटी भी। वहाँ मानस-संगम नाम की एक संस्था है। उसकी ओर से प्रति वर्ष रामकथा का आयोजन होता है। कानपुर का जो सबसे बड़ा 'मोती झील' पार्क है, उसमें तुलसी-उपवन नाम से एक उपवन बनाकर उसमें गोस्वामीजी की एक भव्य तथा अतीव सुन्दर प्रतिमा स्थापित की गई है। उस प्रतिमा का अनावरण उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने किया। उसके बाद भाषण देते हुए उन्होंने एक विचित्र-सा प्रश्न सामने रखा। उनका प्रश्न था कि तुलसी की दृष्टि वेदान्तियों के समान शुष्क और मिथ्यावदी नहीं है। वे इस लोक को भी महत्व देते हैं, इस लोक में उनकी आस्था है। ऐसी स्थिति में रामचरितमानस में जो यह पंक्ति आती है –

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा ॥ ४/११/४

क्या गोस्वामीजी ऐसा वाक्य लिख सकते हैं? आगे उन्होंने अपनी सूझ का परिचय देते हुए कहा कि अवश्य ही गोस्वामीजी ने – **पंच रचित अति अगम सरीरा** – लिखा होगा, जिसे बाद में प्रतिलिपि करनेवालों ने भूल से 'अधम सरीरा' लिख दिया है। यह कहते हुए

उन्होंने मेरी ओर भी देखा, मानो वे कहना चाह रहे हैं कि यह समाधान कैसा है? वह तो कोई खण्डन-मण्डन का मंच था नहीं, मुझे आश्चर्य हुआ कि यह उन्होंने किस तरह से समीकरण करने की चेष्टा की। रामायण में सचमुच ही इस प्रश्न पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया गया है कि शरीर प्रशंसा का पात्र है या निन्दा का? हमारे सन्त कबीर ने और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी शरीर की प्रशंसा की है। लेकिन कब? जहाँ पर शरीर की प्रशंसा की गई है, वहाँ पर उसका एक सन्दर्भ है, लेकिन दूसरे सन्दर्भ में उसकी निन्दा भी की गई है। राम-चरित-मानस में शरीर की प्रशसा भी की गई है और निन्दा भी। भगवान राम शरीर की प्रशसा करते हुए अयोध्यावासियों को उपदेश देते हैं –

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।। ७/४४/७-८

भगवान कहते हैं – यह मनुष्य का शरीर बड़ी दिव्य नौका है, मनुष्य जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है, व्यक्ति को इसका सदुपयोग करना चाहिए। कबीरदासजी ने तो बड़ी मधुर बात कही। वे बोले, "**जीवत मे मोको मिलौ मुए मिलौ न राम** – हे भगवान ! मैं चाहता हूँ कि आपका-मेरा मिलन इस शरीर के रहते हो जाय।" भगवान ने कहा, "इस शरीर के प्रति तुम्हारा इतना आग्रह क्यों है?" उन्होंने कहा, "पारस की परीक्षा सोने पर होगी या लोहे पर? पारस के स्पर्श से सोना अगर सोना हो जाय, तो उसमें पारस की क्या विशेषता है? चमत्कार तो तब है जब लोहा उसके स्पर्श से सोना हो जाय। महाराज, यह शरीर तो लोहे की तरह है, आपके स्पर्श से इसमे स्वर्णत्व आ जाय, तभी तो आपके स्पर्श का दिव्य चमत्कार प्रकट होगा। जब यह लोहा ही नहीं रह जायगा तब पारस की महिमा क्या रह जायगी? यह तो आपकी महिमा प्रकट करने का एक अच्छा माध्यम है।"

यहाँ पर शरीर की प्रशसा करने का अभिप्राय क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं –

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी।। ७/१२१/१०

यह शरीर क्या है? अगस्त्यजी का जन्म घड़े से हुआ, पर उन्होंने समुद्र को पी लिया, विन्ध्याचल को झुका दिया, आतापी और बातापी नामक राक्षसों को मिटा दिया। यह मानो सिद्ध करने के लिए है कि मनुष्य का शरीर भी एक घट है और इस घट से भी अगर अगस्त्य का अर्थात विवेक का, भगवत्प्रेम का जन्म हो जाय, तो व्यक्ति का जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है। सभी लोगों के जीवन में अगस्त्य का जन्म नहीं होता। शरीर की निन्दा कब करते हैं? राज्यपालजी का ध्यान उस ओर नहीं गया कि शरीर की निन्दा किस सन्दर्भ में की गई। जैसे कोई युवक दुल्हे के वेश में आया हुआ और आप उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करें तो स्वाभाविक लगेगा। किन्तु कोई व्यक्ति अगर मरा हुआ पड़ा हो, तो क्या कभी कोई व्यक्ति उसके शरीर की सुन्दरता का वर्णन कर पाता है? क्या किसी निष्प्राण शरीर के सौन्दर्य का वर्णन करना अच्छा लगता है? तब तो उसे शीघ्र ही कपड़े से ढँक दिया जाता है और उसे ले जाकर जला देने की जल्दी रहती है।

जहाँ पर साधना का सन्दर्भ है, वहाँ पर भगवान शरीर की प्रशंसा करते हैं। जब शरीर के माध्यम से ज्ञान, भक्ति और वैराग्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है, भगवान को पाने की

चेष्टा की जाती है, तभी इस शरीर का सदुपयोग है और यह प्रशसनीय है, सार्थक है। परन्तु इसके विपरीत यदि मनुष्य इस शरीर को केवल भोग का साधन बना ले और अन्ततः मृत्यु का ग्रास बन जाय, तो यह शरीर का दुरुपयोग है और ऐसा करना निन्दनीय है। भगवान राम शरीर की निन्दा कब करते हैं? बालि का मृत शरीर पड़ा हुआ है और तारा विलाप कर रही है। उसके अन्तःकरण में दुःसह दुख हो रहा है। भगवान उस समय तारा से पूछते हैं कि वह किसके लिए इतना रो रही है? उसने कहा कि अपने पति बालि के लिए। प्रभु बोले, "यह बालि कौन है? शरीर या आत्मा? अगर तुम्हारा पति आत्मा है, तो विश्वास रखो कि तुम्हारा पति अब इतनी ऊँची स्थिति में पहुँच चुका है कि उससे महानतम स्थिति नहीं हो सकती। वह नित्य है। और अगर तुम्हारे अन्तःकरण में यह बात हो कि यह शरीर, जो तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है, यही तुम्हारा पति है, तो इसे ले जाकर अपने पास रख लो।"

अभिप्राय यह है कि शरीर जब तक आत्मतत्त्व से, प्राण से जुड़ा हुआ है, तभी तक वह पवित्र है, धन्य है और प्रशंसनीय है। लेकिन ज्योंही वह आत्मतत्त्व से अलग हो जाता है, त्योंही घृणा व निन्दा का पात्र और जलाने योग्य हो जाता है। इस सन्दर्भ में अगस्त्यजी को कुम्भज अथवा घटज कहने का अभिप्राय यही है कि शरीर घट है और जब इस घट से अगस्त्य अर्थात विवेक का जन्म होता है, तब वह घट भी प्रशसनीय हो जाता है। किन्तु जिस घट में विवेक का जन्म नहीं हुआ, आत्म-अनात्म का विचार उत्पन्न नहीं हुआ, वह घट व्यर्थ है, निन्दनीय है।

गोस्वामीजी ने रामायण के अनेक प्रसगों में अगस्त्यजी को अलग अलग प्रतीकों के रूप में रखा है। विन्ध्याचल के सन्दर्भ में उनकी भूमिका भिन्न प्रकार की है। कहा जाता है कि एक बार समाज के सामने एक विचित्र समस्या आ गई। विन्ध्याचल ने कहीं से सुना कि सूर्य हिमालय की परिक्रमा करता है। तब उसने सूर्य के पास प्रस्ताव भेजा कि मैं क्या हिमालय से कम हूँ? तुम मेरी परिक्रमा क्यों नहीं करते? यह भी एक समस्या है। सूर्य तो आकाश में है और सबको प्रकाश दे ही रहा है। ऐसा तो नहीं है कि केवल हिमालय को प्रकाश दे रहा है और विन्ध्याचल को नहीं। लेकिन विन्ध्याचल की समस्या कुछ और है। यह ज्ञान की समस्या है। आप ज्ञान पाना और ज्ञानी कहलाना — इन दोनों में बड़ा अन्तर है। ज्ञान पाने की इच्छा तो महान है, पर ज्ञानी कहलाने की इच्छा? अधिकाश लोग ऐसे ही होते हैं, जिन्हें ज्ञान की उपलब्धि में उतना आनन्द नहीं आता, जितना ज्ञानी कहलाने में आता है। सूर्य ज्ञान का, प्रकाश का प्रतीक है और वह प्रकाश विन्ध्याचल को भी प्राप्त है। पर उसमें एक सात्त्विक अभिमान का उदय हो जाता है। ज्ञान के साथ यह समस्या जुड़ी हुई है। ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है —

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। ३/१५/७

जहाँ ज्ञानी मिट जाय और केवल ज्ञान रह जाय। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञानी का भेद मिटे बिना कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। जब केवल शुद्ध ज्ञान शेष रह जाय, ज्ञानी की सत्ता पूरी तरह समाप्त हो जाय, तभी वह सच्चा ज्ञान है। लेकिन विन्ध्याचल में अभिमान है। उसमें अनेक सद्‌गुण हैं, वह परोपकारी है, उसमें ऊपर उठने की शक्ति है, वह सूर्य से कहता है कि वह

उसकी परिक्रमा करे। लोग भी देखें कि वह कितना महान है। सूर्य ने उसका यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। और तब विन्ध्याचल ऊपर उठने लगा। क्यों? बड़ी विचित्र बात है। वैसे तो ऊपर उठना अच्छी बात है, परन्तु यहाँ विन्ध्याचल का ऊपर उठना एक समस्या उत्पन्न कर देता है। वह ऊपर उठकर सूर्य का मार्ग अवरुद्ध कर देना चाहता है, ससार में अँधेरा फैला देना चाहता है। अभिमानी का ऊपर उठना भी एक समस्या है। ज्ञान प्रकाश है, पर अभिमानी का ज्ञान प्रकाश नहीं बल्कि अँधेरा फैलाने लगता है। विन्ध्याचल ने कहा — सूर्य अगर मेरी परिक्रमा नहीं करेगा तो मैं सूर्य का प्रकाश ससार में नहीं फैलने दूँगा, उसे अवरुद्ध कर दूँगा। लोग घबरा गये। फिर वही सूत्र — सत्कर्म और सद्गुण से सम्पन्न व्यक्ति के अन्तःकरण में भी सात्त्विक अभिमान सिर उठाने लगता है । उस सात्त्विक अभिमान को यदि बढ़ने दिया जाय, तो अन्ततोगत्वा वह ज्ञान का ही मार्ग अवरुद्ध कर देता है, क्योंकि जहाँ पर ज्ञान है, वहाँ पर असीमता है और जहाँ पर अभिमान है वहाँ पर सीमा है। इसलिए अभिमान ससार को प्रकाश से वंचित कर सकता है।

इस संकट से बचने का उपाय घड़े के बेटे के पास है। सब लोग महर्षि अगस्त्य के पास गए। संसार में जो व्यक्ति विवेकी है, वही कुम्भज है, घटज है। उसके जीवन में जब सात्त्विक अहंकार सिर उठाने लगता है, तब वह वही करता है, जो अगस्त्यजी ने किया। वे विन्ध्याचल के सामने पहुँच गये। विन्ध्याचल में अनेक कमियाँ होते हुए भी महर्षि अगस्त्य के प्रति उनके मन में आदर और विनम्रता का भाव है। अगस्त्यजी यहाँ गुरु के प्रतीक हैं। अभिमान नष्ट करने का सबसे बड़ा उपाय क्या है? गुरु। गुरु बनाने की परम्परा का मूल तत्त्व क्या है? क्या बिना गुरु के व्यक्ति साधना नहीं सकता, आगे नहीं बढ़ सकता? पुस्तकों में सारी साधना-पद्धति लिखी हुई है। गुरु के बिना भी क्या यह सब नहीं किया सकता? किया जा सकता है, पर साधना में भी एक बहुत बड़ी समस्या है। और वह समस्या है अभिमान की। कोई व्यक्ति स्वय साधना करके सिद्ध हो जाय, तो उसे निश्चित रूप से यह अभिमान कि यह उसके पुरुषार्थ तथा योग्यता का परिणाम है। किन्तु जब वह गुरु के द्वारा उपदिष्ट होकर साधना करता है तब उसे लगता है कि गुरुकृपा का फल है। साधना के बाद सबसे बड़ी समस्या है साधनाभिमान और यहीं पर गुरु की महिमापूर्ण भूमिका है और वह है इस अभिमान से बचाना। इसीलिए रामायण में गुरु शब्द को अभिमान से जोड़ दिया गया है —

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान। ३/३५

भगवान राम जब शबरी की कुटिया में आए, तो उनके मन में गर्व होना चाहिए था कि मैंने कितनी तपस्या-साधना की, कितना जप-तप किया, जो प्रभु मेरी कुटिया में आए, पर उनके मन में ऐसा विचार नहीं आया। वे विनम्रता से झुक गईं। गोस्वामीजी ने कहा —

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए।। ३/३४/६

शबरी सोचने लगी कि प्रभु दीन-हीन नारी की कुटिया में कैसे आ गये? मुझमें तो कोई साधना नहीं है, अवश्य ही यह गुरु के आशीर्वाद का फल है। मतगजी ने आशीर्वाद दिया था कि तुम्हें भगवान मिलेंगे। उनका आशीर्वाद कैसे झूठा हो सकता था। गुरु की कृपा से ही भगवान मेरी कुटिया में आए हैं। इस प्रकार अपने पुरुषार्थ और योग्यता से भगवान को

पाने का अभिमान न होकर गुरु की कृपा से पाने की विनम्रता की वृत्ति का उदय होता है। विन्ध्याचल के साथ भी यही हुआ। वह ऊपर की ओर उठता जा रहा था। परन्तु ज्योंही अगस्त्यजी को देखा तो झुक गया। विनम्रता और निरभिमानता आ गई। उसने अगस्त्यजी के चरणों में प्रणाम करके पूछा, "गुरुदेव, मेरे लिए क्या आज्ञा है?" महर्षि ने मुस्कुराते हुए कहा, "जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम ऐसे ही पड़े रहो।" यह कहकर वे दक्षिण की ओर चले गये। कहते हैं कि इसके बाद अगस्त्यजी जो गये, तो लौटकर ही नहीं आए और विन्ध्याचल आज भी वैसे ही दण्डवत पड़ा हुआ है। अगस्त्यजी पहले उत्तर भारत में रहते थे। बाद में संसार के कल्याण के लिए वे दक्षिण भारत चले गए और लौटकर नहीं आए।

लगता है कि विन्ध्याचल के साथ बड़ा छल हुआ, अन्याय हुआ। बेचारा ऊपर उठ रहा था और अगस्त्यजी ने उसे रोक दिया। पर बात ऐसी नहीं है। गुरु की भूमिका बड़ी जटिल है। कभी ऐसा भी लग सकता है कि श्रद्धावान शिष्य के प्रति अन्याय हुआ, पर गुरु की भूमिका तो सदा शिष्य के हित में होती है। भले ही वह तात्कालिक दृष्टि से अहितकर प्रतीत हो, परन्तु उसका दूरगामी परिणाम सदा हितप्रद होता है। विन्ध्याचल ने जब ज्ञान के स्थान पर ज्ञानाभिमान को पालना चाहा, तो सन्त के संग से उसमें विराम लगा। सन्त की बात मानकर विनम्र हो जाने पर उसमें समर्पण की वृत्ति आई। और तब उस विनम्रता तथा समर्पण का उसे क्या फल मिला? भगवान राघवेन्द्र अयोध्या से जब वन की ओर चले तो उन्होंने महर्षि वाल्मीकि से पूछा – महाराज, मैं कहाँ रहूँ?" महर्षि बोले – राम, तुम चित्रकूट में निवास करो। यह चित्रकूट विन्ध्याचल की एक शाखा है। गोस्वामीजी ने वहाँ पर शब्द बड़ा सुन्दर कहा –

चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू॥ २/१३२/८

बेचारा यह विन्ध्याचल गौरव पाने के लिए बड़ा व्यग्र था और उसे पाने हेतु इतना ऊपर उठ रहा था, तब उसे उस गौरव से वंचित कर दिया गया, परन्तु उसके साथ अन्याय नहीं हुआ। यही कुम्भज या विवेक की महत्ता है। विन्ध्याचल सूर्य के द्वारा परिक्रमा किए जाने पर उतना धन्य नहीं होता, जितना वह सन्त के चरणों में पड़े रहने से हुआ। भगवान जब वन में थे तब उन्होंने इसी विन्ध्याचल की 'चित्रकूट' नामक एक शाखा में निवास किया और वहाँ की परिक्रमा का बड़ा महत्व है, क्योंकि भगवान राम जब वहाँ पहुँचे तो सबसे पहले उन्होंने चित्रकूट की परिक्रमा की। इसका तात्पर्य? मानो भगवान ने विन्ध्याचल से कहा – कहीं तुम यह न समझ लेना कि सन्त के सामने झुकने से नुकसान होता है। तुम तो केवल एक सूर्य से परिक्रमा कराने को व्यग्र थे, पर महात्मा के सामने झुके तो सूर्य क्या, कोटि सूर्य जिनमें निवास करते हैं, वे स्वयं तुम्हारी परिक्रमा कर रहे हैं। अभिप्राय यह कि सही अर्थों में ऊँचाई तो ईश्वर की प्राप्ति में है। केवल चारों ओर प्रभामण्डल खींचकर स्वयं को ज्ञानी के रूप में प्रदर्शित करने में कोई लाभ नहीं। इस तरह अगस्त्यजी विन्ध्याचल की वृत्ति को मोड़ देते हैं। वह ईश्वर को पाकर धन्य हो जाता है। यह अगस्त्यजी का ज्ञानयोग है।

इसके बाद अब दूसरी समस्या कर्मयोग की है। महर्षि अगस्त्य जब दक्षिण भारत में पहुँचे तो वहाँ पर एक बड़ा संकट फैला हुआ था। दण्डकारण्य में न जाने कितने ऋषि-मुनि

थे पर उनकी संख्या नित्य कम होती जा रही थी। इसका कारण किसी को समझ में नहीं आ रहा था। अगस्त्यजी ने उस समस्या का समाधान किया। दण्डकारण्य में दो दैत्य रहते थे। वे दोनों सगे भाई थे। एक का नाम था आतापी और दूसरे का बातापी। ये दोनों रोज एक महात्मा के घर जाकर निमन्त्रण देकर कहते – महाराज, आज आप भिक्षा ग्रहण करने को हमारे घर पधारें। महात्मा बड़े सरल भाव से स्वीकार कर लेते थे। इधर आतापी अपने भाई बातापी को मारकर पकाता और उसे ऐसा रूप दे देता कि वह शाकाहारी व्यंजन और फलाहार जैसा लगे। महात्मा जब भिक्षा के लिए आते, तो आतापी उन व्यंजन तथा फलों को महात्मा के सामने रख देता और उसे वे ग्रहण कर लेते। आतापी मृतसजीवनी विद्या जानता था। महात्मा के भोजन कर लेने के बाद उसके मन्त्र पढ़कर बातापी को पुकारने पर बातापी उन महात्मा का पेट फाड़कर निकल आता और दोनों मिलकर उस मुनि को खा जाते थे। इस तरह वहाँ मुनियों की संख्या कम हो रही थी। अगस्त्यजी से भी उन्होंने ऐसा ही व्यवहार किया, पर बात उलट गई। अगस्त्यजी जब भोजन कर चुके तो आतापी मन्त्र पढ़ने लगा, किन्तु बातापी जैसे पेट फाड़कर निकल आया करता था, वैसा नहीं हुआ। उसके न निकलने पर आतापी घबराकर बारम्बार मन्त्र पढ़ने लगा। सोचने लगा कि क्या बात है, मन्त्र पढ़ने में कहीं कोई गलती तो नहीं हो रही है। अगस्त्यजी ने कहा, "अरे मूर्ख, जिस पेट में समुद्र पच गया, उस पेट में क्या तेरा भाई बचा होगा? अब वह नहीं रहा।" यह सुनकर आतापी उन्हें मारने दौड़ा और अगस्त्यजी ने उसे भस्म कर दिया। आतापी भी समाप्त हो गया बातापी भी। इसका अभिप्राय क्या है? यह दण्डकारण्य है जीव का मन –

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥ १/२४/७

इस मनरूपी दण्डकारण्य में हर्ष-विषाद रूप आतापी-बातापी दो भाई हैं। हर्ष आतापी है और विषाद बातापी। जब हर्ष निमन्त्रण देता है, तो सभी बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार कर लेते हैं। यह निमन्त्रण चलता ही रहता है। हर्ष के निमन्त्रण को स्वीकार करते समय व्यक्ति जानता नहीं कि वह विषाद का ही सगा भाई है। सुख का ही सगा भाई दुःख है। जिस समय बाहर सुख दिखाई दे, तो समझ लीजिए कि भीतर पेट में दुख बैठा हुआ है, न जाने कब पेट फाड़ कर निकल आये। किन्तु अगस्त्यजी की विशेषता क्या है –

कुंभज लोभ उदधि अपार के। १/३२/६

लोभ समुद्र है और कुम्भज उस लोभ के समुद्र को पी गये। इसका अभिप्राय यह है कि जिसके जीवन में लोभ नहीं रह गया है, उसके जीवन में सुख-दुख ही कहाँ रह जायेगा?

कर्मयोग की सबसे बड़ी समस्या है सुख और दुःख। व्यक्ति को हर्ष प्रिय और विषाद अप्रिय है, परन्तु ये दोनों मिलकर व्यक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। जब तक विषाद को पचा नहीं लिया जाता और हर्ष को भस्म नहीं कर दिया जाता, तब तक यथार्थ स्वस्थता नहीं आ सकती। अगस्त्यजी के चरित्र के माध्यम से मानो संकेत किया गया है कि हर्ष और विषाद वस्तुतः दो नहीं, एक ही हैं और यह सुख-दुख की जो समस्या है, उसका समाधान यही है कि वे हर्ष-विषाद, दोनों ही को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देते हैं। ◻(क्रमशः)◻

शंकराचार्य-चरित (६)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व भगवान शंकराचार्य के आविर्भाव से सनातन वैदिक धर्म में नवजीवन का संचार हुआ, जिसके फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुन: सबल होकर आज भी फल-फूल रहा है। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द द्वारा बँगला में लिखित उनकी संक्षिप्त जीवनी के अनुवाद की प्रस्तुत है अन्तिम कड़ी। – सं.)

लीलावसान

काश्मीर में प्रचार कार्य समाप्त हो जाने पर शंकर को लगा कि अब उनका कर्तव्य पूरा हो चुका है। व्यास की दी हुई आयु भी अब समाप्तप्राय थी। इसके पूर्व ही विविध स्थानों में प्रचार के लिए मठों की स्थापना हो चुकी थी, अब उन्होंने शिष्यों को वहाँ जाकर प्रचार कार्य में लग जाने का आदेश दिया। शिष्यगण भी समझ गये कि जीवन सर्वस्व गुरुदेव के साथ अब और मिलना न हो सकेगा। अत: यह आदेश उनके लिए कैसा मर्मभदी था, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे लोग गुरु का संग त्यागने को राजी नहीं हुए। दयामय आचार्यदेव ने भी शिष्यप्रेम से बाध्य होकर कुछ काल तक उन्हें साथ लेकर हिमालय के केदारधाम में निवास किया। तदुपरान्त उन लोगों को पूर्वनिर्दिष्ट कार्य में भेजकर महासमाधि के द्वारा अन्तर्हित हो गये।

शिवावतार भगवान शंकराचार्य की कृपा से परस्पर-प्रतिद्वन्द्वी धर्मों का कलह-कोलाहल शान्त हो गया। उनकी आध्यात्मिक शक्ति तथा शिष्यों के प्रचार के फलस्वरूप लोग अद्वैत ब्रह्मतत्त्व को लक्ष्य बनाकर सैकड़ों मतों और पथों से ब्रह्मनिर्वाण पाकर कृतार्थ हुए।

उपसंहार

कुमारिल ने बौद्ध कदाचार को दूर कर वैदिक सदाचार प्रतिष्ठित किया। सदाचार ही धर्म की मूल भित्ति है। शंकर ने उसी नींव पर सर्व-अवयव युक्त पूर्णांग वैदिक धर्म की स्थापना की। सामान्यत: लोगों की ऐसी धारणा है कि शंकर ने केवल ज्ञान का ही प्रचार किया है – एक अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है और जन्म-मृत्यु, धर्म-अधर्म सभी मिथ्या है – सिर्फ इन्हीं कुछ बातों का प्रचार किया है। परन्तु उनके ग्रन्थों में वर्ण, आश्रम तथा ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति आदि वैदिक धर्म के सकल अंगों की बातें दीख पड़ती हैं। उन्होंने किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं किया, भारत में चिरकाल से प्रचलित सनातन वैदिक हिन्दू धर्म की ही उन्होंने पुन: स्थापना की थी।

सनातन धर्म

धर्म के दो रूप हैं – प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। सुखी होने के लिए अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक पूरा करने को प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं। इस धर्म का पालन करने से इहकाल परकाल में सुख मिलता है। मन में किसी भी तरह की आकांक्षा रखे बिना केवल भगवान के प्रीत्यर्थ कर्म करने से अथवा मुक्तिलाभ के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग या ध्यानयोग का

अभ्यास किया जाय तो उसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं । इसके फलस्वरूप जीवन काल में ही तथा देहान्त होने पर मुक्ति या पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति होती है ।

इन दो प्रकार के धर्मों की उपलब्धि के लिए समाज को चार वर्णों तथा मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है ।

वर्ण धर्म – ब्राह्मण समाज की ज्ञानवृद्धि के लिए ज्ञानचर्चा करेंगे और उसका प्रचार करेंगे । क्षत्रिय समाज की रक्षा करेंगे । वैश्य समाज में धन की वृद्धि करेंगे । शूद्र शारीरिक परिश्रम कर समाज की रक्षा करेंगे ।

आश्रम धर्म – बचपन में, विद्यार्थी जीवन में शरीर को पूर्वोक्त वर्णधर्म साधन के उपयोगी बना लेना पड़ता है – इसे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं । यौवन में विवाह करके निष्ठापूर्वक अपने वर्ण का कर्तव्य पूरा करने का नाम है गृहस्थाश्रम । प्रौढ़ हो जाने पर संसार के कर्म त्यागकर केवल धर्मसाधन में लगे रहने को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं । इसी जीवन में मुक्तिलाभ के लिए ब्रह्मचर्याश्रम के बाद अथवा किसी भी समय संसार त्यागकर योगसाधन में लग जाने को संन्यासाश्रम कहते हैं ।

निवृत्तिधर्म-साधन – (१) मन में किसी भी प्रकार की स्वार्थसिद्धि का संकल्प न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्य सम्पादन करने को कर्मयोग कहते हैं । (२) अपने शरीर की प्राणशक्ति को पूर्णरूप से वश में लाकर हृदय में मन को स्थिर करते करते अपने देह-मन के अतीत स्वरूप को जान लेने को राजयोग, ध्यानयोग या योगाभ्यास कहते हैं । (३) भगवान की उपासना करने से वे मनुष्य को मुक्त कर देते हैं । उनकी उपासना को भक्तियोग कहते हैं । (४) सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से विचार करते करते देह-मन के अतीत अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेने को ज्ञानयोग कहते हैं ।

धर्म के ये मूल नियम किसी सम्प्रदाय अथवा किसी विदेश देश-काल के लिए सीमित नहीं हैं; सभी देशों के, सभी काल में, सभी लोगों के जीवन को ये नियंत्रित करते हैं, अत: इन्हें 'सनातन धर्म' कहते हैं । इसमें चार वर्ण और चार आश्रम हैं, अत: इसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं । वेद से इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है, अत: इसे वैदिक धर्म भी कहते हैं ।

शंकर की संगठन-प्रतिभा

आचार्यदेव ने केवल धर्म प्रचार करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर ली, अपितु धर्मरक्षा के लिए वे एक स्थायी व्यवस्था भी कर गये । उनके कुछ प्रमुख कार्यों का विवरण निम्नलिखित है –

(१) मनुष्य के अनुमान कहीं धर्म का स्थान न ग्रहण कर लें, इसके लिए उन्होंने उपनिषद्, गीता तथा वैदिकधर्म तत्त्व के विचारग्रन्थ ब्रह्मसूत्र की प्रांजल व्याख्या लिखी ।

(२) शृंगेरी मठ में 'बहुजनहिताय' देवी सरस्वती की प्रतिष्ठा की ।

(३) वेदाचार तथा शास्त्ररक्षा के निमित्त उन्होंने सद्ब्राह्मण-सम्प्रदाय का गठन किया तथा वर्णाश्रम धर्म की पुन: स्थापना की ।

(४) ज्ञानाभ्यास तथा मोक्षधर्म के प्रचारार्थ उन्होंने संन्यासी-सम्प्रदाय का गठन किया ।

(५) धर्मप्रचार के केन्द्र रूप तीर्थों का उद्धार, देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा तथा सेवा-पूजा की व्यवस्था भी उन्होंने की ।

(६) धर्म के आचार-प्रचार तथा रक्षण हेतु संन्यासियों के मठों की स्थापना की ।

आचार्यदेव ने धर्मरक्षा के दुर्गरूप भारत के चार प्रान्तों में मठ स्थापित किये; पश्चिम के द्वारका-क्षेत्र में सारदा मठ, उत्तर में बदरिकाश्रम के निकट जोशीमठ या ज्योतिर्मठ, पूर्व के पुरुषोत्तम-क्षेत्र पुरी में गोवर्धन मठ और दक्षिण के रामेश्वर-क्षेत्र में शृंगगिरि या शृंगेरी मठ ।

चार प्रधान शिष्यों के नेतृत्व में संन्यासियों को चार भागों में बाँटकर भारत के चार अंगों में उनके कार्यक्षेत्र निर्धारित कर दिये गये । संन्यासियों के दस तरह के नाम होने के कारण उन्हें 'दशनामी' सम्प्रदाय कहते हैं ।

अनेक स्थानों के ब्राह्मण संस्कारहीन, शास्त्रज्ञान-रहित तथा बौद्ध-भावापन्न हो गये थे । समाज में उनका बिल्कुल भी सम्मान या प्रभाव न था । आचार्यदेव ने उन्हें दैनिक संस्कारों में संस्कृत कर, सदाचार की शिक्षा देकर पुनः समाज-शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था । वे जहाँ भी जाते वहाँ के तीर्थ तथा देवालयों में पहुँचकर देवता की पूजा-अर्चना तथा स्तोत्र-रचना कर उनमें जागृति लाते तथा उनकी सेवा-पूजा की सुव्यवस्था करते । देवी-देवताओं की जो स्तुतियाँ उन्होंने रची थीं, अब तक आसमुद्र-हिमालय-वासी उनका पाठकर धन्य हो रहे हैं । देवपूजा की सामान्य विधि में जो 'सोऽहं' चिन्तन करने की व्यवस्था दीख पड़ती है, वह इन्हीं अमितवीर्य महापुरुष के विधान का फल है ।

शंकर की तपस्या से शृंगेरी मठ में माँ सरस्वती चिरकाल के लिए विद्यमान हैं । जब जब भारत में धर्म की ग्लानि उपस्थित होती है, तब तब भगवान इसी मठ के साधु-सम्प्रदाय में आविर्भूत होकर धर्मरक्षा करते हैं । पूर्णावतार श्रीकृष्णचैतन्य के मंत्रदाता ईश्वरपुरी तथा संन्यासदाता केशवभारती शृंगेरी मठ के ही भूर्वार सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं । उनका श्रीकृष्णचैतन्य नाम इस सम्प्रदाय के ब्रह्मचारी पदवी का बोधक है । इसके बाद जब सम्पूर्ण जगत् पुनः इह-सर्वस्वता के अनल में दग्ध होने लगा तो इसी भूर्वार सम्प्रदाय के आचार्य तोतापुरी ने गुरुपरम्परागत ब्रह्मविद्या श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव को प्रदान करके मनुष्य के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया ।

भारत के चार प्रान्तों में स्थित दशनामी सम्प्रदाय के प्रचार-केन्द्र चार प्रधान मठों का विवरण –

नाम -	शृंगेरी मठ	गोवर्धन मठ	सारदा मठ	ज्योतिर्मठ
आचार्य -	सुरेश्वर	पद्मपाद	हस्तामलक	तोटकाचार्य
सम्प्रदाय -	भूमिवार या भूर्वार	दोनवार	कीटवार	आनन्दवार
पदवी -	सरस्वती पुरी, भारती	वन, अरण्य	तीर्थ, आश्रम	गिरि, पर्वत, सागर
ब्रह्मचारी-	चैतन्य	प्रकाश	स्वरूप	आनन्द
वेद -	यजुः	ऋक्	साम	अथर्व
तीर्थ -	तुंगभद्रा	महोदधि	गोमती	अलकनन्दा
अधिष्ठाता -	आदिवराह	जगन्नाथ	सिद्धेश्वर	नारायण
अधिष्ठात्री -	कामाक्षी	विमला	भद्रकाली	पुण्यगिरि

(समाप्त)

देश मेरा

जितेन्द्र कुमार तिवारी

है विवेकानन्द वाला देश मेरा ।
सभ्यता की पाठशाला देश मेरा ।।

ज्ञान श्रुतियों और स्मृतियों का यहीं है,
भूमि ऋषियों और मुनियों की यहीं है;
सत्य-शिव-सौन्दर्य का आधार वाला,
विश्व में सबसे निराला देश मेरा ।।

राम की महिमा जहाँ आकार पाती,
आदिकवि की लेखनी करुणा जगाती;
सहजता का पाठ देकर मनुजता को
गढ़ रहा चिरकाल से यह देश मेरा ।।

देह नश्वर है मगर आत्मा अमर है,
ज्ञान यह गीता हमें देती प्रखर है;
अन्ध तम से दूर शुभ सन्देश वाला,
ज्ञान-गरिमा से उजाला देश मेरा ।।

सघन वन, उत्तुंग पर्वत और नदियाँ
प्रकृति की ही गोद में बीती हैं सदियाँ;
विविध खनिजों का अमित भण्डार देकर
स्वयं ईश्वर ने गढ़ा यह देश मेरा ।।

विश्व को बन्धुत्व का सन्देश देता,
और उज्ज्वल सांस्कृतिक परिवेश देता,
आज भौतिक भोगवादी विश्व के हित
प्रेम की है पाठशाला देश मेरा ।।

माँ के सान्निध्य में (४९)

प्रफुल्ल कुमार गांगुली

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं। इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१९१६ ई. में बेलूड़ मठ में दुर्गापूजा का अनुष्ठान चल रहा था। श्री माँ सप्तमी के दिन दोपहर को मठ में आकर उत्तरी ओर के उद्यान-भवन में निवास कर रही थीं। अष्टमी को सबेरे के आठ-नौ बजे वे मठ तथा प्रतिमा का दर्शन करने आयी हैं। रसोईघर के निकट के हॉल में साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्तगण बड़ी मात्रा में सब्जियाँ काट रहे थे। माँ देखकर कह उठीं, "लड़के खूब सब्जियाँ काट रहे हैं।" जगदानन्दजी ने कहा, "चाहे साधन-भजन के द्वारा हो या फिर सब्जियाँ काटने से हो, ब्रह्ममयी को प्रसन्न करना ही तो उद्देश्य है।"

उस दिन बहुत से लोगों ने श्री माँ को प्रणाम किया था। उन्हें बारम्बार गंगाजल से पाँव धोते देखकर योगीन-माँ ने कहा था, "माँ, यह क्या हो रहा है? सर्दी जो लग जायेगी!"

माँ ने कहा, "योगेन, क्या कहूँ, कोई कोई प्रणाम करता है तो शरीर ठण्डा हो जाता है; और कोई कोई प्रणाम करता है तो मानो शरीर में आग ढाल देता है। गंगाजल से धोये बिना राहत नहीं मिलती।"

बाद में एक दिन बातचीत के बीच मैंने माँ से पूछा था, "माँ, किसी किसी के प्रणाम से तुम्हें बड़ा कष्ट होता है, एक बार पूजा के समय मैंने तुम्हारे मुख से यह बात सुनी थी।"

माँ बोलीं, "हाँ बेटा, किसी किसी के प्रणाम करने पर मानो ततैया के काटने के समान जलन होती है। परन्तु मैं किसी से कुछ कहती नहीं।" इतना कहने के बाद वे सस्नेह दृष्टि के साथ बोलीं, "सो बेटा, तुम लोगों को कुछ नहीं कहती हूँ।"

मैंने कहा, "माँ, भय होता है कि तुम्हारे समान माँ को पाकर भी मानो कुछ हुआ नहीं, ऐसा लगता है।"

माँ – भय की क्या बात है, सदा के लिए जान रखना कि ठाकुर तुम लोगों के पीछे उपस्थित हैं। मैं भी हूँ – मुझ माँ के रहते भय की क्या बात? ठाकुर तो कह गये हैं, 'जो लोग तुम्हारे पास आयेंगे, मैं अन्तिम समय में आकर उन लोगों का हाथ पकड़कर ले जाऊँगा।" कोई चाहे जो भी क्यों न करे, कोई चाहे जैसी खुशी क्यों न चले, अन्तिम काल में तुम लोगों को लेने ठाकुर को आना ही होगा। ईश्वर ने हाथ-पाँव (इन्द्रिय आदि) दिये हैं, वे तो दौड़ेंगे ही, अपना खेल करेंगे ही।"

एक बार ठाकुर को भोग देते समय मैंने देखा कि उनके चित्र से प्रकाश की एक रेखा निकलकर नैवेद्य पर पड़ रही है। अत: मैंने माँ से पूछा, "माँ, मैं जो देखती हूँ वह सत्य है या मस्तिष्क का भ्रम? यदि भ्रम हो, तो ऐसा कुछ करो कि मेरा सिर ठण्डा हो जाय।"

माँ थोड़ा-सा सोचकर बोलीं, "नहीं बेटा, वह सब ठीक ही है ।"

मैं – तुम क्या जानती हो?

माँ – हाँ ।

मैं – ठाकुर को और तुमको जो भोग देता हूँ, उसे क्या ठाकुर ग्रहण करते हैं और क्या तुम भी ग्रहण करती हो?"

माँ – हाँ ।

मैं – मैं भला कैसे समझूँगा?"

माँ – क्यों, गीता में क्या तुमने नहीं पढ़ा है – भगवान को भक्तिपूर्वक फल, पुष्प, जल आदि जो कुछ भी दिया जाता है, उसे वे ग्रहण करते हैं!"

इस उत्तर पर विस्मित होकर मैं बोला, "तो फिर क्या तुम भगवान हो?"

इस बात पर माँ हँस उठीं । हम लोग भी हँसने लगे ।

इन्दुभूषण सेनगुप्त

१९१० ई. के कार्तिक मास में कालीपूजा के पूर्व शिलांग के चन्द्रकान्त घोष के अनुरोध तथा उत्साह पर मैं वहाँ से पहली बार श्रीमाँ का दर्शन करने आया । कलकत्ते पहुँचकर मैं अपने एक मित्र के साथ (जो पहले ही श्रीमाँ की कृपा प्राप्त कर चुके थे) 'उद्बोधन' भवन गया । श्रीमाँ का दर्शन करने के बाद उस मित्र ने सहसा माँ के समक्ष मेरी दीक्षा का प्रसंग उठाया । उत्तर में माँ ने कहा, "ठीक है, कल हो जायगा ।" सहसा इस उत्तर पर मैं चकित हो उठा, क्योंकि मैंने दीक्षा की बात उठाने को उनसे कहा नहीं था और मेरे मन में भी दीक्षा लेने की बात नहीं आयी थी । अस्तु, अगले दिन निर्दिष्ट समय पर मैं फिर वहाँ जा पहुँचा । श्रीमाँ को प्रणाम करने के बाद मैं उनके चरणों में पुष्पांजलि देने जा रहा था, तभी माँ बोल उठीं, "अभी नहीं, मैं बता दूँगी कि कब देना होगा ।" दीक्षा हो जाने के बाद मेरे समक्ष अपने दोनों पाँव फैलाकर वे बोलीं, "अब दे सकते हो ।" पुष्पांजलि देने के बाद मैं सरल भाव से बोला, "मैंने जो फूलों से पूजा की, यह मेरे भक्ति-विश्वास के कारण नहीं है, चन्द्रकान्त बाबू ने मुझे सिखा दिया था । उन्होंने मुझे जो कुछ बताया था, केवल उतना ही मैंने किया है । चन्द्रकान्त बाबू ने ही मुझे यहाँ भेजा है ।"

श्रीमाँ हँसते हुए बोलीं, "चन्द्रकान्त ने तो तुम्हें अच्छा ही मार्ग दिखाया है, बेटा ।" इतना कहने के बाद उन्होंने सस्नेह अपना हाथ मेरे सिर पर रख दिया ।

इसके बाद एक बार और मैं श्रीमाँ का दर्शन करने जाकर उनके साथ वार्तालाप कर रहा था । बातचीत के दौरान दुःख व्यक्त करते हुए मैंने माँ से कहा था; "माँ, संसार में अनेक प्रकार के झंझट हैं, उसके ऊपर से नौकरी है, इस कारण जप-तप विशेष नहीं हो पाता । मन की भी उन्नति नहीं हो रही है ।" माँ ने तत्काल अभय देते हुए कहा था, "अभी जैसा है चलने दो, अन्त में (तुम्हें लेने) ठाकुर को आना ही होगा ।" वे स्वयं ही कह गये हैं । उनके मुख की बात क्या मिथ्या हो सकती है? जो मन में आये किये जाओ ।"

मैं – माँ, जिन लोगों ने तुमसे दीक्षा ली है, उन्हें तो फिर दुबारा आना नहीं होगा?

माँ – नहीं, उन्हें नहीं आना होगा। तुम लोग सर्वदा जाने रहना कि तुम्हारे पीछे कोई एक उपस्थित है।

मैं – माँ, तुम मिल गयी हो, यही हमारा सहारा है।

माँ – तुम्हें चिन्ता ही क्या है बेटा, तुम लोगों की मुझे खूब याद रहती है।

एक अन्य समय कोयलपाड़ा में बातचीत के दौरान मैंने माँ से कहा था, "माँ, साधन-भजन कुछ हो नहीं पा रहा है।"

माँ ने अभय तथा आश्वासन देते हुए कहा था, "तुम्हें कुछ करना नहीं होगा, जो कुछ करना है मैं करूँगी।"

विस्मित होकर मैंने कहा, "मुझे कुछ करना नहीं होगा?"

माँ – नहीं।

मैं – तो अब से मेरी भावी उन्नति मेरे स्वयं के किये हुए कर्मों पर निर्भर नहीं होगी?

माँ – नहीं, तुम भला क्या करोगे? जो करना होगा, मैं करूँगी।

श्रीमाँ की इस अहैतुक कृपा पर मैं अवाक रह गया। इसके बाद बातचीत के दौरान माँ के पाँवों के दर्द की बात उठी। मैंने पूछा, "माँ, सुना है कि किसी किसी के छूने पर तुम्हें कष्ट होता है?"

माँ – हाँ बेटा, किसी किसी के छूने पर शरीर मानो शीतल हो जाता है और किसी किसी के छूने पर लगता है मानो बर्र ने काट दिया है। पर मैं किसी से कुछ कहती नहीं।

मैं मन-ही-मन सोच रहा था – तो क्या हम लोग भी उसी बर्र की श्रेणी के हैं? अन्तर्यामिनी बोल उठीं, "बेटा, तुम लोग ऐसे नहीं हो।"

इसके महीने भर बाद रथयात्रा की छुट्टियों में मैं फिर कोयलपाड़ा मठ गया। रथयात्रा के दिन श्रीमाँ के साथ निम्नलिखित बातें हुई थीं –

मैं – माँ, तुम्हारी कृपा मिली है, यही मेरा आशा-भरोसा है।

माँ – तुम्हें क्या चिन्ता है बेटा, तुम मेरे अन्तर में निवास करते हो। कोई अभाव या आवश्यकता होने पर मन में विचार करते ही, तुम लोगों की बात याद आ जाती है – इन्दु आदि हैं, चिन्ता कैसी? तुम्हें कुछ करना नहीं होगा। तुम्हारे लिए मैं कर रही हूँ।

मैंने फिर पूछा, "तुम्हारी इतनी सन्तानें हैं, क्या तुम्हें सबके लिए करना पड़ता है?

माँ – हाँ, मुझे सबके लिए करना पड़ता है।

मैं – तुम्हारी इतनी सन्तानें हैं, क्या सबकी तुम्हें याद रहती है?

माँ – नहीं, सबकी याद नहीं रहती।

मै – तो फिर तुमने जो कहा कि तुम सबके लिए करती रहती हो!

माँ – जिसका जिसका नाम याद आता है, उनके लिए जप करती हूँ। और जिनका नाम स्मरण नहीं आता, उनके लिए ठाकुर से यह कहकर प्रार्थना करती हूँ – "ठाकुर मेरी अनेक सन्तानें अनेक स्थानों पर हैं, जिनका नाम मुझे स्मरण नहीं आ रहा है, उन्हें तुम देखना। उनके कल्याण के लिए जो आवश्यक हो, करना।"

श्री ....

२७ चैत्र, १९१७ ई. के जयरामबाटी में संध्या के बाद माँ के साथ बातें हो रही थीं।

मैं – माँ, सभी लोग कहते हैं कि कल्पतरु के पास जाने पर कुछ माँगना चाहिए। परन्तु बच्चे माँ से भला क्या माँगेंगे? जिसे जो आवश्यकता है, माँ उसे स्वयं ही दे देती है। जैसा कि ठाकुर कहा करते थे, "जिसके पेट में जो सहन होता है, माँ उसे वही खिलाती हैं।" तो फिर क्या करना उचित है?

माँ – मनुष्य में भला बुद्धि ही कितनी है? क्या माँगना चाहिए और क्या माँग बैठेगा! शिवमूर्ति गढ़ने के प्रयास में आखिरकार बन्दर बन जायेगा! उनके शरणागत होकर रहना ही अच्छा है। जब जो आवश्यकता होगी, वे स्वयं ही दे देंगे। तो भी भक्ति तथा निर्भरता की कामना करनी चाहिए – यह कामना कामनाओं में नहीं गिनी जाती।

मैं – ठाकुर ने कहा है, 'जो लोग यहाँ आयेंगे, उनका यह अन्तिम जन्म है।' और स्वामीजी ने कहा है, 'संन्यास लिए बिना किसी की मुक्ति नहीं होगी।' तो फिर गृहस्थों के लिए क्या उपाय है?

माँ – हाँ, ठाकुर ने जो कहा है वह भी ठीक है और फिर स्वामीजी ने जो कहा है वह भी ठीक है। गृही लोगों को बाह्य-संन्यास की आवश्यकता नहीं। उनका अपने आप ही आन्तरिक-संन्यास होगा। परन्तु किसी किसी के लिए बाह्य-संन्यास की आवश्यकता है। तुम लोगों को भय की क्या बात? उनके शरणागत होकर रहना। और सर्वदा जाने रखना कि ठाकुर तुम्हारे पीछे विद्यमान हैं।

१९१५ ई. का चैत्र मास। मैं 'उद्‌बोधन' भवन में श्रीमाँ का दर्शन करने गया था।

एक बार अपनी माँ के समक्ष उन्हें तीर्थ-दर्शन कराने वाराणसी ले जाने की इच्छा व्यक्त करने पर उन्होंने असमय बोलकर जाने से मना कर दिया था। मैंने यह बात श्रीमाँ को बतायी। उत्तर में वे बोलीं, "बेटा, कहते हैं कि असमय में तीर्थ-दर्शन करने से पूर्व धर्म नष्ट हो जाते हैं, पर दूसरी ओर पुण्यकार्य को जल्दी-से-जल्दी निपटा लेना ही अच्छा है।"

माँ के इस दोनों अर्थवाले वाक्य को समझने में असमर्थ होकर मैंने पुन: शंका उठायी और पूछा कि ऐसी परिस्थिति में क्या करना उचित होगा।

माँ – संसारी लोगों में एक बात प्रचलित है कि असमय तीर्थ-दर्शन उचित नहीं। देखो, काल-अकाल का विचार करके पुण्यकार्य को तो स्थगित रखा जा सकता है, परन्तु काल (मृत्यु) के लिए काल-अकाल का विचार नहीं है, अत: मौका मिलते ही काल-अकाल की प्रतीक्षा न करते हुए पुण्यकार्य को पूरा कर डालना ही अच्छा है।

एक समय मेरे एक मित्र की अत्यन्त असहाय अवस्था में अस्पताल में अकाल-मृत्यु हो गयी। उनके विमल स्वभाव तथा ईश्वरानुरक्ति की बात माँ को पत्र द्वारा सूचित करते हुए मैंने उनके मुक्ति की याचना की थी। इसके उत्तर में माँ ने सूचित किया था, "मैं आशीर्वाद करती हूँ कि तुम्हारे मित्र की मुक्ति हो जाय। ठाकुर उसे समस्त बन्धनों से मुक्त कर दें।"

□(क्रमशः)□

रामायण में भारतीय आदर्श

प्रज्ञाभारती डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

रामायण का हमारे भारतीय जीवन पर अपूर्व प्रभाव है। अगर किसी ग्रन्थ के प्रभाव के कारण किसी राष्ट्र को उपाधि देनी हो तो हम कह सकते हैं कि यह भारत 'रामायणीय राष्ट्र' है। हमारी सभी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में श्रीमत् वाल्मीकि के रामायण का इतना गहरा प्रभाव है कि प्राय: बारहवीं सदी से आरम्भ होनेवाले उनके वाङ्मयीन इतिहास के शुरुआत में रामकथा-विषयक ग्रन्थ ही अग्रगण्य माने जाते हैं।

हमारी प्रादेशिक जीवन पद्धति में आज भी कुछ ऐसी परम्पराएँ मिलती हैं, जिनका मूल रामायण की विशिष्ट घटनाओं में मिलता है। सुना है कि बिहार की कुछ जातियों में विवाह के बाद कन्या एक बार ससुराल गई कि फिर मायके नहीं आती । इस रूढ़ि का कारण वहाँ के ग्रामीण मित्र बताते हैं कि 'सीता माई ससुराल गई, तो फिर कभी मायके नहीं लौटीं।'

अभी हाल तक भारत के घर घर में नवजात बालक के नामकरण में रामायणीय परिवार के राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, हनुमान, सीता, जनक इत्यादि नामों को ही प्राधान्य रहा। राघव, रघुपति, सुमित्रानन्दन, सीतानाथ, रामदास, अयोध्या प्रसाद इत्यादि सम्बद्ध नामों का भी उतना ही प्राधान्य रहा ।

महाराष्ट्र में शिवाजी महाराज की राज्यक्रान्ति के काल में प्रणाम के समय राजगुरु समर्थ रामदास ने 'राम राम' कहने की प्रथा प्रचलित की और वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गयी। आज भी महाराष्ट्र के देहाती बान्धव प्रणाम करते समय 'राम-राम जी' कहते हैं।

रामायण के प्रभावमूलक और भी प्रमाण दिए जा सकते हैं। जिस ग्रन्थ का आम जनता के समाजिक जीवन के अग-प्रत्यंगों पर इतना गहरा और दीर्घकालिक प्रभाव पड़ा है उसमें प्रतिपादित और प्रतिबोधित जीवनमूल्यों का संक्षिप्त विवेचन ही इस लेख का उद्देश्य है।

वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार प्रभु रामचन्द्र भगवान विष्णु के सातवें अवतार माने गए हैं। सभी पुराणों में रामचन्द्रजी के अवतारत्व के विषय में मतैक्य है। इस अवतार का असाधारण महत्व यह है कि यह 'मानव' है। जैन मत के अनुसार जीव ही अपनी साधना के बल पर 'अर्हत' अवस्था (अथवा ईश्वरपद) प्राप्त करता है। 'नर करनी करे तो नारायण होय' – इस लोकोक्ति का मूल जैन सिद्धान्त में मिलता है। मानव में पुरुषार्थ की प्रेरणा उद्दीपित करने के लिए यह भाव नितान्त महत्वपूर्ण है। परन्तु जीवन में भ्रान्त धारणा तथा अविवेक के कारण जब घोर पतन का काल आता है, सर्वत्र अँधेरा फैल जाता है, अधर्म को धर्म का उच्च स्थान प्राप्त होता है, साधुओं की **'त्राहि माम'** अवस्था होती है और दुर्जनों में ऐसा भाव होता है कि **'कोन्योऽस्ति सदृशो मया** – मेरे जैसा कौन है', तब सामान्य मनुष्य के 'उद्धार' का कार्य केवल सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी भगवान ही कर सकते हैं।

उन्हीं को किसी न किसी रूप में धरती पर प्रकट होकर, साधुओं का परित्राण करने के लिए हिरण्यकश्यपु, रावण जैसे दुष्कर्ताओं का विनाश करना पड़ता है और अपनी नीति

मर्यादायुक्त आचरण द्वारा धर्म-सस्थापना करनी पड़ती है। या फिर हम यह भी कह सकते हैं कि जिस विभूति के द्वारा यह त्रिविध कार्य सम्पन्न होता है, उसी के प्रति अपनी आत्यन्तिक श्रद्धा व्यक्त करने के लिए हम उन्हें भगवान का अवतार मानते हैं। वाल्मीकि के राम ऐसे ही कुछ थे, जिस कारण चाहे नास्तिक मतानुसार हम उन्हें 'नर के नारायण' मानें या 'नारायण का नर रूप' मानें, उनका चरित्र और कृतित्व हमारे लिए सर्वथा आदर्श है।

रामराज्य

भारतीय संस्कृति के अनुसार 'रामराज्य' आदर्श राज्य का पर्याय शब्द है। वाल्मीकि रामायण के आरम्भ में महाराज दशरथ के राज्य शासन का वर्णन आता है, जहाँ हम देखते हैं कि उस अयोध्यापति के राज्य के सभी प्रदेशों में अपार धन-धान्य तथा समृद्धि है, समाज के सभी घटक अपने अपने वर्णों तथा आश्रमों के धर्म का अनुशासन स्वतःप्रेरणा से पालन करते हैं। राजा तथा उसके प्रमुख अधिकारीगण विनय सम्पन्न हाने के कारण 'यथा राजा तथा प्रजा' न्याय के अनुसार प्रजाजन भी विनीत एवं मर्यादाशील हैं। रामायण के अनुसार प्रजाजन का नैतिक और सास्कृतिक स्तर का आदर्श इस प्रकार है –

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुलः॥

वनवासी रामचन्द्र को वापस लौटाने के लिए स्वयं भरत के आने पर श्रीरामचन्द्र ने उन्हें राज-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो विविध प्रश्न पूछे, उनमें स्वय श्रीरामचन्द्र की आदर्श राज्य की कल्पना हमारे लिए सुस्पष्ट होती है। लवणासुर का उपद्रव शान्त करने के लिए जब शत्रुघ्न के नेतृत्व में सेना देकर भेजा गया तब श्रीरामचन्द्रजी उन्हें सन्देश देते हैं कि उसमें सुराज्य (अर्थात रामराज्य) -संवर्धन के लिए आदर्श सेना और सेनापति के सम्बन्ध का मार्गदर्शन मिलता है। वह मार्गदर्शन शाश्वत होने के कारण आज भी आदर्श बना हुआ है। भरत को भी सैनिकों को उचित समय पर यथायोग्य वेतन देने का निर्देश दिया गया है।

लोकमत का यह आदर्श राज्य का प्रमुख लक्ष्य माना जाता है। वाल्मीकि के आदर्श-राज्य की कल्पना में यत्र-तत्र इस मूल्य का निर्देश मिलता है। महाराज दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था का विचार करते हुए जब अपने अन्तःकरण में ज्येष्ठ पुत्र राम का राज्याभिषेक करने का निर्णय लिया, तो वह प्रजा की सहमति के बिना उन पर नहीं लादा। प्रजा के विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधियों की आम सभा में इस पर विचार-विमर्श हुआ और अन्त में प्रजा की निरपवाद अनुमति मिलने पर ही श्रीराम के राज्याभिषेक का निर्णय घोषित हुआ।

दशरथ जैसे आदर्श शासनकर्ता के शासन में ही प्रजाजनों से अथवा मंत्रिमण्डल से विचार करने की पद्धति थी, इतना ही नहीं, रावण के राज्य में भी श्रीराम से युद्ध करने के विषय पर विभीषण, कुम्भकर्ण, माल्यवान आदि अधिकारियों से यथेष्ट विचार-विमर्श होता है और उस चर्चा में विभीषण, कुम्भकर्ण और माल्यवान आदि कटु शब्दों में रावण के निर्णय से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं।

रामायण के उत्तरकाण्ड में सीतात्याग के बारे में श्रीरामचन्द्रजी ने जो कठोर निर्णय लिया, उसमें यह महान सिद्धान्त दिखाई देता है कि आदर्श राज्य में अत्यल्प विरोधी मत

का भी अनादर नहीं होना चाहिए । लोकमत का इतना चरम समादर संसार की किसी अन्य संस्कृति में कभी नहीं हुआ था और न आगे होगा।

आदर्श राज्य में सभी विद्याओं और कलाओं के समुचित विकास के लिए राजाश्रय अपेक्षित होता है। इसके लिए स्वयं राजा का विद्यासम्पन्न और ज्ञानी होना आवश्यक है। अनपढ़ तथा कलाहीन राजा के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता। वन-प्रयाण के समय जब श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को अपनी निजी सम्पत्ति विद्वानों को समर्पण करने की सूचना देते हैं, तब हमें उनमें वेदादि विद्याओं की विविध शाखाओं का सूक्ष्म ज्ञान दिखाई देता है। उसी सम्पत्ति-दान यज्ञ के समय एक गरीब ब्राह्मण अपने परिवार के पोषण करने के लिए उनसे द्रव्य-याचना करता है, तब हँसी में वे उसे एक दण्ड देकर कहते हैं, "यह दण्ड तू फेंक। वह जहाँ भी गिरेगा, वहाँ तक की सम्पत्ति तुझे मिलेगी।" ब्राह्मण का फेंका हुआ दण्ड सरयू के तट पर जा पड़ा। प्रभु राम ने उस भू-सीमा में जितना भी धन था, वह उसे दे दिया।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में यज्ञ को असाधारण महत्व प्राप्त था। आदर्श राज्य में यज्ञकार्य का सम्पादन – देवपूजा, दान और समाज-संगठन – इन तीनों उद्देश्यों से होता था। रामायण में महाराजा दशरथ ने पुत्रलाभ के लिए महान यज्ञ-महोत्सव किया था, जिसका समग्र आयोजन वसिष्ठ मुनि के नेतृत्व में हुआ। इन दोनों यज्ञों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि आदर्श राज्य में लोगों के गुणों, विद्वत्ता तथा विशिष्ट योग्यता का कितना समादर होना चाहिए। यज्ञ-संस्था का संरक्षण – राजा का एक प्रमुख उत्तरदायित्व माना जाता है। लोक-कल्याणार्थ देवताओं की कृपाप्राप्ति हेतु विश्वामित्र जैसे तपस्वी ऋषि यज्ञ करते थे। राक्षस या वैसी वृत्ति के मानव ऐसे पवित्र कर्मों में विघ्न डालना अपना कर्तव्य मानते थे। उनका संहार करके यज्ञ-संस्था का रक्षण – हमारी संस्कृति में आदर्श राजा का कर्तव्य माना गया है। विश्वामित्र के यज्ञ के विघ्नों का निवारण करने के लिए, महाराज दशरथ से उनके प्राणप्रिय पुत्रों की माँग की गई। आदर्श राजा ऋषि-मुनियों के आदेश का भंग नहीं करते थे। विश्वामित्र के समान एक वनवासी तपस्वी का आदेश सार्वभौम सम्राट दशरथ ने शिरोधार्य किया और अपने प्रिय पुत्रों को ऋषि के साथ बिना सेना के भेज दिया। रामायण की इस छोटी-सी घटना में राजकर्ताओं के लिए बहुत बड़ा सन्देश भरा हुआ है।

जिस रामचन्द्र ने विश्वामित्र के यज्ञ का संरक्षण किया वही महापुरुष युद्धकाण्ड में मेघनाद के यज्ञ को विध्वंस करने का आदेश देता है। यज्ञ एक ऐसा आधिदैविक धर्मकार्य है, जिसमें कर्ता को देवताओं की कृपा से दिव्य क्षमता मिल जाती है। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न राक्षसों ने इसी दिव्य सामर्थ्य की लिप्सा से कठोर तपस्या तथा महान यज्ञ किये थे। परन्तु वे उस साधना से प्राप्त क्षमता का उपयोग अपनी 'आसुरी सम्पदा' के कारण सज्जनों पर अत्याचार करने हेतु करने लगे थे। मेघनाद का यज्ञ फलदायी होता, तो उस राक्षस का संहार करने की सामर्थ्य संसार में किसी में भी नहीं होती। यज्ञ जैसी धर्मक्रिया का ऐसा घोर परिणाम समझकर ही श्रीरामचन्द्रजी ने उसके विध्वंस का आदेश दिया था। प्रभु रामचन्द्रजी के यज्ञ तथा विध्वंस के द्वारा हमें यही सन्देश मिलता है कि किसी कर्म का अन्तिम परिणाम ही उसका धर्मत्व अथवा अधर्मत्व सिद्ध करता है।

रामायण कथा का प्रत्येक व्यक्तित्व हमें किसी-न-किसी गुण या अवगुण के प्रतीक के रूप में दिखाई देता है। उनमें 'दैवी-सम्पद' और 'आसुरी-सम्पद' से युक्त दो प्रकार स्पष्ट रूप में प्रकट होते हैं। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है कि 'दैवी सम्पद' मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पद बन्धन के लिए कारणीभूत होती है –

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

महर्षि वाल्मीकि ने अपनी महान वाङ्मय-कृति में दोनों सम्पदाओं का शाश्वत चित्रण कर विश्व को सन्देश दिया है कि '**रामादिवत् वर्ततव्यं न रावणादिवत्**' – रावण-कुम्भकर्ण इत्यादि आसुरी गुण सम्पन्न व्यक्तियों के समान नहीं, अपितु राम-लक्ष्मण आदि दैवी गुण सम्पन्न महापुरुषों के समान संसार में आचरण करना चाहिए।

रामायण के आसुरी दल में विभीषण ही एकमात्र अपवादात्मक व्यक्तित्व दिखाई देता है। रावण का सगा भाई होते हुए भी, उसकी विवेक-बुद्धि तामसी नहीं थी। उग्र तपश्चर्या के बाद प्रसन्न हुए भगवान के सम्मुख हाथ जोड़कर वह प्रार्थना करता है, "हे प्रभो, मेरा मन सदैव धर्मनिष्ठ रहे, किसी महान संकट में भी वह धर्मनिष्ठा से विचलित न हो। मुझे सदैव सत्यज्ञान प्राप्त हो।"

श्रीरामचन्द्रजी के सहकारियों में हनुमान एक अद्भुत सहकारी थे, जिनके सहयोग के बिना सीता की खोज, लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा और वानरों का संगठित होना असम्भव-सा था। स्वय श्री रामचन्द्रजी तो साक्षात धर्म के प्रतीक थे ही – **रामो विग्रहवान धर्मः**, परन्तु उनका यह दिव्य अनुयायी भी उसी धर्म का अंग अर्थात भक्ति का प्रतीक था। प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच नैष्ठिक व्रत का पालन करना ऋषि-मुनियों के लिए भी असम्भव हो जाता है। परन्तु हनुमानजी ने वह भी योग्यता सिद्ध की थी। अपने परम श्रद्धेय नेता के आदेश का पालन करते हुए वे समुद्रोल्लंघन करते हुए लका में जा पहुँचे। उनकी पूरी यात्रा ही विघ्नों से परिपूर्ण थी, परन्तु उन्होंने समस्त विघ्नों को परास्त किया। परन्तु उस महानगरी में अपरिचिता सीता को खोजने के लिए, उन्हें रात के समय रावण का सारा जनानखाना ढूँढ़ना पड़ा। यह कर्म उनके ब्रह्मचर्यव्रत के सर्वथा प्रतिकूल था। उनके स्थान पर यदि दूसरा कोई अविवेकी ब्रह्मचारी होता, तो निद्रित स्त्रियों के मुखकमल निरखने के इस कर्तव्य का पालन नहीं करता और स्वामी-कार्य पूरा किये बिना ही लौट आता।

हनुमानजी ने हजारों निद्रित स्त्रियों को देखने के बाद आत्मविश्लेषण किया और पाया कि इस धर्म-विरुद्ध कृत्य से भी उनका अन्तःकरण यथापूर्व शुद्ध है। जिस अधर्म कृत्य से अन्तःकरण निर्विकार रहता है, वह वास्तव में अधर्म नहीं होता और जिस धर्मकृत्य के कारण अन्तःकरण में अहंकार, दर्प, लोभ जैसे विकार उठते हैं, वह वास्तव में धर्मकृत्य नहीं रह जाता। हनुमानजी के जीवन की इस विचित्र घटना में हमें धर्म तथा अधर्म का महान विवेक देखने को मिलता है। महाभारतकार कहते हैं – **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्** अर्थात धर्म का सत्यस्वरूप, गुहा में निहित पदार्थ के समान अगम्य है। महर्षि वाल्मीकिजी ने वह गुहागत धर्मतत्त्व ऐसे अनेक प्रसगों का चित्रण करते हुए विश्व के सम्मुख रख दिया।

इसी प्रकार का धर्मनिर्णय, ताड़का-वध के प्रसंग में भी बताया गया है। विश्वामित्र के यज्ञ का विध्वंस करने का पाप करनेवाली ताड़का एक स्त्री थी। यज्ञशाला पर उसका आक्रमण होता है, तब विश्वामित्र इन बालवीर को उसके वध का आदेश देते हैं। बालपन होते हुए भी, जन्मसिद्ध क्षत्रित्व के कारण रामचन्द्रजी स्त्रीवध करना उचित है या नहीं, इस संशय के कारण धनुष पर बाण नहीं चढ़ाते। उनकी उस सन्देहावस्था में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के उपदेश द्वारा कर्म-अकर्म का विवेक महर्षि वाल्मीकि ने समाज को सिखाया।

रावण-विभीषण के सम्बन्ध में जिस प्रकार विवेक और अविवेक का स्वरूप दिखाया गया है उसी प्रकार बालि-सुग्रीव के सम्बन्ध में भी विवेक-अविवेक का स्वरूप दिखाई देता है। उन राक्षस बन्धुओं के समान ये भी बन्धु थे। दोनों महापराक्रमी और आपस में राम-लक्ष्मण के समान आत्मीयता रखते थे। बीच में मायावी के साथ बाली का संग्राम पहाड़ी प्रदेश में शुरु हुआ। दीर्घ काल तक बाली वापस नहीं आया। उस युद्ध में बाली मारा गया होगा यह सोचकर मंत्रिमण्डल ने सुग्रीव से राजसिंहासन पर आरोहण करने की प्रार्थना की, भाई की मृत्यु की कल्पना से व्यथित हुए सुग्रीव ने बड़े कष्ट से सिंहासनारोहण किया और राजकाज सम्भाला। कई दिनों के बाद मायावी राक्षस को परास्त कर विजयी बाली किष्किन्धा में वापस लौटा। सुग्रीव को सिंहासन पर देखकर उसका सारा विवेक समाप्त हो गया। वस्तुस्थिति जानने की क्षमता उसमें नहीं रही। सुग्रीव का निवेदन उसे बनावटी लगा। अपने दुर्जेय सामर्थ्य से उसने सुग्रीव और उसके हनुमान, जाम्बवान आदि अनुयायी वर्ग को निर्वासित किया। ऋषि के शाप से जिस प्रदेश में बाली को प्रवेश करना असम्भव था उस दुर्गम प्रदेश में एक निर्वासित राजा के समान सुग्रीव को वनवासी जीवन बिताना पड़ा। विवेकभ्रष्ट बाली ने भाई को निर्वासित कर, उसका पूरा बदला लेने के लिए उसकी पत्नी तारा को अपने अन्तःपुर में रख लिया।

सीता की खोज करते समय श्रीराम को सुग्रीव-बाली का इतिहास ज्ञात हुआ। बाली में सुग्रीव से अधिक बल था। वह सिंहासनाधीश था और सीताहरण करनेवाले रावण को परास्त कर चुका था। व्यावहारिक तो यह होता कि वे रावण के विरोध में निर्वासित सुग्रीव की तुलना में उसके बलवत्तर भाई से मैत्री करते और उसकी सहायता से रावण को हराकर सीता को वापस ले आते, पर श्रीराम को धर्म-अधर्म विवेक में बाली जैसे धर्मभ्रष्ट और विवेकनष्ट राजा से मैत्री करना सम्मत नहीं था। उन्होंने अपने विवेक के अनुसार सुग्रीव से ही मित्रता की और भ्रातृपत्नी के अपहरणकर्ता नीतिभ्रष्ट बाली का युक्ति से सहार किया।

बाली-वध में रामचन्द्रजी ने जिस युक्ति का प्रयोग किया उसकी नैतिकता के विषय में आज के विद्वान काफी विवाद करते हैं। इसमें श्रीराम का जो कुछ दोष दिखाई देता है, वह उनके मनुष्यत्व के कारण क्षम्य माना जा सकता है। युद्ध में कभी कभी कपट-नीति का आश्रय लेना ही पड़ता है। अन्यथा पराभव और विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है।

बाली की तुलना में सुग्रीव अधिक संयमी तथा विवेकी अवश्य था, पर उसका संयम और विवेक भी कभी कभी अत्यधिक शक्ति के आत्मविश्वास से छूट जाता है। लंका पर आक्रमण करने के पूर्व श्रीराम तथा सुग्रीव आदि प्रधान नेता लंका का निरीक्षण कर रहे थे।

उस निरीक्षण के समय सुग्रीव की दृष्टि रावण पर पड़ी। उसका क्रोधावेश एकदम फूट पड़ा और वहीं से वह रावण पर कूद पड़ा और मारपीट कर वापस आया। तुरन्त श्रीरामचन्द्रजी ने उसके अविवेकपूर्ण पराक्रम की भर्त्सना की। शत्रु से संघर्ष करते समय शत्रु के गुण-दोष, बलाबल का यथार्थ विचार कर अत्यन्त संयम और विवेक से संग्राम करना चाहिए। केवल मार-काट का अर्थ ही युद्ध नहीं होता। स्वयं रामचन्द्रजी ने जब रावण को समरांगण में अपने सम्मुख देखा तो वे उसके महनीय व्यक्तित्व की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। अपना मत व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि यदि इसमें स्त्री-विषयक पापवृत्ति न होती, तो पुलस्त्य ऋषि का यह पौत्र इन्द्रपद विभूषित करने की योग्यता रखता है। और अन्त में उसका वध करने के बाद **'मरणान्तानि वैराणि'** कहकर उसके मृत शरीर को नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हैं। श्रीरामचन्द्र के इस आदर्श आचरण का प्रभाव हिन्दुस्तान के इतिहास की कई घटनाओं में मिलता है। पुण्यश्लोक शिवाजी महाराज ने अफजलखान का वध करने के बाद उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं उसकी कब्र बनवायी। **'मरणान्तानि वैराणि'** के रामवचन के सनातन संस्कार के कारण उसके शरीर का अनादर नहीं किया। इस संस्कार के अभाव का परिणाम औरंगजेब के व्यक्तित्व में दिखाई देता है। शिवाजी महाराज के पुत्र सम्भाजी की नृशंस हत्या करने के बाद उस वीर के कलेवर का यथोचित सम्मान नहीं हो सका। इसका कारण **'मरणान्तानि वैराणि'** इस रामायणीय मर्यादा का संस्कार उस कट्टर बादशाह के अन्तःकरण में नहीं था।

भारतीय नारी-जीवन में 'पातिव्रत्य' एक महान जीवनमूल्य माना गया है। 'पातिव्रत्य' या 'पतिव्रता' ऐसे संस्कृत शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची किसी अन्य भाषा में नहीं मिलते। रामायण में सीता का व्यक्तित्व इस महान जीवनमूल्य का प्रतीक है। स्वयंवर के बाद सीताजी के व्यक्तित्व में जो अनेक गुण प्रकट हुए, उन सबका मूल उनका पातिव्रत्य ही है। **'भर्तृदेवाः हि नार्याः'** – सनातन भारतीय संस्कृति का यह आदेश सीताजी ने शत-प्रतिशत पालन किया था। वनवास के लिए प्रस्तुत पतिदेव से सीता ने कहा, "मेरे माता-पिता ने मुझे बचपन से यही पढ़ाया है कि किसी भी अवस्था में पति का अनुसरण करना चाहिए। उस शिक्षा का आज मैं पालन करूँगी और आपके साथ वनवास के सारे कष्ट आनन्दपूर्वक सहूँगी।" सीता के पातिव्रत्य का दिव्य स्वरूप उनके अपहरण के बाद विशेष रूप से प्रकट होता है। त्रिभुवन जयी रावण उससे अनुनय करता है और वे महान पतिव्रता उसका घोर तिरस्कार करती हैं। अपने पातिव्रत्य के दिव्य तेज से रावण को भस्मसात करने का सामर्थ्य रखते हुए भी वे नितान्त संयम के कारण उसका उपयोग नहीं करती, क्योंकि उससे पतिदेव के पराक्रम का अनादर होता। वे रावण से स्पष्ट कह देती हैं, "इन्द्र के वज्राघात से और साक्षात मृत्यु के जबड़े से तू भले ही बच जाय, पर महावीर श्रीराम के बाणों से तू नहीं बच सकेगा। राम की शरण जाने में ही तेरा मंगल है।" रावण जैसे वीर का इतना घोर अपमान करने का धैर्य जगत में सीता को छोड़ अन्य किसी ने नहीं दिखाया। उस पातिव्रत्य के फल से ही उन्हें यह परम धैर्य प्राप्त हुआ था। एक पतिव्रता असहाय अवस्था में भी कितना आत्मबल प्राप्त करती है, इसका उदाहरण वाल्मीकि ने सीता के व्यक्तित्व में दिखाया है।

सीता को अपने पातिव्रत्य के दिव्य तेज की परीक्षा स्वयं पतिदेव के समक्ष भी देनी पड़ी थी। रावणवध के बाद सुस्नात होकर सीता आह्लादित अन्तःकरण से श्रीराम के दर्शन को आती हैं। मन-ही-मन वे सोच रही थीं कि वे नितान्त स्नेहपूर्वक मुझे स्वीकार करेंगे। परन्तु वैसा नहीं हुआ। धीरोदात्त श्रीराम सीताजी से कहते हैं, ''मुझे तुझसे कोई प्रयोजन नहीं। राक्षस-संहार से मेरा कर्तव्य पूरा हुआ। रावण के स्पर्श तथा उसकी पापदृष्टि के कारण मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता।'' अपने पति के इस प्रतिरोध का प्रत्युत्तर सीता ने अग्निपरीक्षा के रूप में दिया। साक्षात अग्निदेव ने उनके निष्कलंक पातिव्रत्य का प्रमाण दिया। धर्मनिष्ठ पति द्वारा निर्वासित होने के बाद भी दूसरे वनवास में सीताजी की पतिभक्ति में लेश मात्र अन्तर नहीं आया। उस पति-विरहित वनवास काल में वे देवताओं से पतिदेव के कल्याण की ही प्रार्थना करती रहीं, क्योंकि वे जानती थीं कि कठोर राजधर्म के पालन करने के लिए ही पति ने मेरा त्याग किया है। उनके अन्तःकरण में मेरा स्थान अटल है। अन्त में, ''हे भू माता! काय-मन-वाणी से यदि मैंने राम की ही आराधना की होगी तो तू मुझे स्वीकार कर।'' ऐसे धीरोदात्त उद्गार व्यक्त करते हुए वे अपनी धरती माता की गोद में समा जाती हैं। सीताजी की महनीयता वर्णन करने के लिए संसार में उन्हीं को छोड़ दूसरा कोई उपमान नहीं है। महाकवि भवभूति कहते हैं – 'सीता इत्येव अलम्'।

सिंहासन पर श्रीराम की पादुका रखकर, उपयोगशून्य वृत्ति से राज्यशासन करनेवाले भरतजी, श्रीराम की सेवा में वनवास के सुदीर्घ काल खण्ड में अनिमेष जाग्रत रहनेवाले लक्ष्मण और श्रीराम का वियोग सहन न हो पाने के कारण अपने कार्यक्षेत्र से अयोध्या में वापस आने की इच्छा करनेवाले शत्रुघ्न – ये सभी निष्ठा एवं परम भ्रातृप्रेम के प्रतीक रामायण में मिलते हैं। पारिवारिक और सामाजिक एकता निर्माण करने के लिए रामायण में प्रदर्शित यह निष्काम निर्मम भ्रातृप्रेम का आदर्श समाज के हर व्यक्ति के अन्तःकरण में दृढ़मूल कराने की परम आवश्यकता है। रामराज्य की चरितार्थता जितनी धन-धान्य तथा समृद्धि में है, उससे बढ़कर रघुवंश के इन चार कुल-पुत्रों के सात्त्विक सम्बन्ध में दिखाई देनेवाली एकरसता में भी है। भाषा, पंथ, मतभेदों के कारण परस्पर विभक्त होनेवाले आधुनिक भारतीय समाज में एकता लाने हेतु इस आदर्श को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

वाल्मीकीय रामायण के केवल विहंगावलोकन से हमें जो कतिपय जीवन-मूल्य दिखाई देते हैं, उससे हजारों गुना अधिक जीवनमूल्य उसके मूलग्राही अध्ययन से मिल सकते हैं। इन सबका दृढ़ संस्कार प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण पर होने के लिए इस राष्ट्र में रामकथा रूपी सुधा की निरन्तर वर्षा होती रहे, यही परमात्मा से प्रार्थना है। □
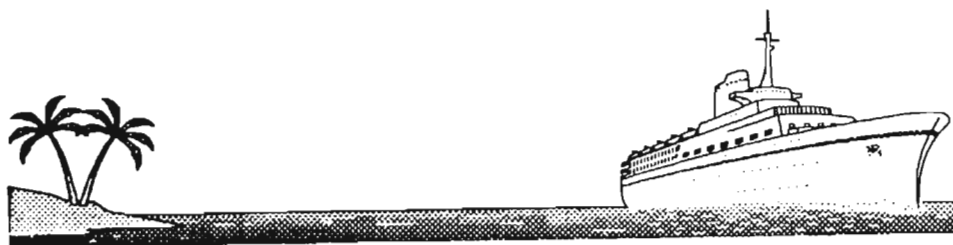
महात्माओं की क्रियासिद्धि

रवीन्द्रनाथ गुरु

य आसीद्धर्मात्मा भुवि कलिकतायामिह यतिः
सदा काल्याः पादाम्बुजयुगलसेवार्पितमतिः ।
प्रसिद्धिं प्राप्तोऽसौ विगतधनशिक्षोऽपि भुवने
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥१॥

— जो धर्मात्मा यति (श्रीरामकृष्ण) कलकत्ता में स्थित मन्दिर में काली के चरणारविन्दों में सेवा-समर्पित थे, उन्होंने धन तथा शिक्षा से विहीन (निरक्षर) होकर भी पूरे विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त की । (इससे समझा जा सकता है कि) महात्माओं की कार्यसिद्धि उपकरणों पर नहीं, बल्कि उनके सत्त्व पर निर्भर करती है ।

स यो रामः कृष्णः खलु परमहंसोऽमलमना
सतां वर्योऽत्रासीच्छ्रित चरमसत्यात्मसुरतिः ।
विवेकानन्दस्याऽतुलगुरुवरः सोऽमरयशाः ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥२॥

— वे ही श्रीराम और श्रीकृष्ण स्वरूप सुनिर्मलमति परमहंसवर परम सत्य परमात्मा के आश्रित होकर विवेकानन्द के अतुल्य गुरु के रूप में अमर कीर्तिशाली हो गये । (इससे समझा जा सकता है कि) महात्माओं की कार्यसिद्धि उपकरणों पर नहीं, बल्कि उनके सत्त्व पर निर्भर करती है ।

चिकागो संस्थाऽऽसीत्प्रथितविभवा धर्मविषया
स्वधर्माणां वैशिष्ट्यरटनरतास्तत्र विबुधाः ।
विवेकानन्दः केवलममरकीर्त्तिं ह्यलभत
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३॥

— शिकागो के विश्वविख्यात सर्वधर्म-सम्मेलन में, विभिन्न देशों के असंख्य धर्माचार्य-विद्वान अपने अपने धर्म की महिमागान करने को उपस्थित हुए थे, तथापि एकमात्र स्वामी विवेकानन्द ने ही अमर कीर्ति प्राप्त की । (इससे समझा जा सकता है कि) महात्माओं की कार्यसिद्धि उपकरणों पर नहीं, बल्कि उनके सत्त्व पर निर्भर करती है ।

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (८)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

९. झेलम के तट पर टहलते हुए वार्तालाप

व्यक्ति – स्वामीजी और यूरोपीय लोगों की एक टोली, जिसमें धीरा माता, जया तथा निवेदिता थीं।
स्थान – काश्मीर
समय – २० से २९ जुलाई, १८९८

२० जुलाई। अगले दिन हम अवन्तीपुर के दो विशाल मन्दिरों के भग्नावशेषों के पास पहुँचे। घण्टे-पर-घण्टे ज्यों ज्यों हम आगे की ओर बढ़ते गये, त्यों त्यों नदी तथा पहाड़ और भी जीवन्त प्रतीत होने लगे। और वहाँ चारों ओर के खेतों, वृक्षों तथा लोगों (जिनके साथ हम पूरी तौर से अपनत्व का अनुभव कर रहे थे) के आकर्षण में पड़कर हम लोग भूल गये कि हम मध्य एशिया की एक नदी के बारे में शोध कर रहे हैं! जिन लोगों ने किसी भी ऋतु में काश्मीर को देखा है, उनके मनों में यह कालिदास के वसन्त-वन की असंख्य स्मृतियाँ जगा देता है। उन वनों में फैले जंगली चेरी-ब्लाजम, बादाम तथा सेव वृक्षों के उस सौन्दर्य के बीच, जिन वनों में देवदार के नीचे शिव आसीन हैं, गिरिराज-कन्या उमा कमल के बीजों की माला का उपहार लिए वहाँ प्रवेश करती हैं और निकट ही सुन्दर कामदेव अपना फूलों का धनुष तथा तुणीर लिए खड़ा है। इंग्लैण्ड के वसन्त ऋतु जो कुछ अलौकिक लगता है या ईस्टर के समय नारमण्डी के वनों में जो कुछ प्रिय लगता है, वह सब एकत्रित तथा गुणित होकर काश्मीर की घाटी का सौन्दर्य बना है।

उस दिन सुबह नदी चौड़ी, छिछली तथा स्वच्छ थी और हममें से दो स्वामीजी के साथ खेतों के बीच से होकर नदी के किनारे किनारे लगभग तीन मील तक टहले। उन्होंने मिस्री, सामी तथा आर्य लोगों की पाप-विषयक धारणा पर बोलना आरम्भ किया। वेदों में यह प्रकट होता है, परन्तु शीघ्र ही लुप्त भी हो जाता है। वहाँ शैतान को क्रोध का अधीश्वर कहा गया है। फिर बौद्धों में वह काम के अधीश्वर मार के रूप में परिणत हुआ और संस्कृत अमरकोष के अनुसार 'मारजित्' भगवान बुद्ध के सबसे प्रिय नामों में से एक था, जिसका स्वामीजी ने चार वर्ष के बालक के रूप में उच्चारण करना सीखा था! परन्तु जबकि बाइबिल का शैतान हैमलेट, हिन्दू शास्त्रों में क्रोध के अधीश्वर के रूप में निरूपित होकर कभी सृष्टि का विभाजन नहीं करता। वह सदैव पतन का द्योतक है, द्वैत का कदापि नहीं।

जरथुस्त्र किसी पुराने धर्म के एक सुधारक थे। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि में अहुर्मज्द तथा अहिर्मन भी सर्वोच्च नहीं, बल्कि सर्वोच्च की अभिव्यक्ति थे। वह पुराना धर्म वेदान्तिक रहा होगा। इस प्रकार मिस्री तथा सामी पाप के सिद्धान्त को पकड़े रहते है,

जबकि भारतीय तथा यूनानी आर्य इसे शीघ्र ही भूल जाते हैं। भारतवर्ष में पुण्य तथा पाप का भाव, विद्या तथा अविद्या में परिणत हो गया, और दोनों के ही परे जाना उद्देश्य मान लिया गया। पारसी तथा यूरोपीय आर्यगण सामी धार्मिक विचारों के प्रभाव में आ गये, इसीलिए उनमें पाप का भाव है।[१]

और तब बातचीत का दौर, जैसा कि सदा ही हुआ करता था, देश तथा उसके भविष्य के प्रश्न की ओर मुड़ गया। जनता में शक्ति का संचार करने के लिए उनमें कौन से विचारों का प्रचार किया जाय? उसके अपने विकास की रेखा एक ओर जा रही है, जिसे 'क' कहा जा सकता हैं। और जो नया बल संचारित होगा, वह उसमें थोड़ा ह्रास लायेगा, जिसे 'ख' से प्रदर्शित किया गया है। इसके फलस्वरूप इन दोनों के बीच के मार्ग से उन्नति होगी, जिसे 'ग' से दिखाया गया है और यह केवल एक ज्यामितिक परिवर्तन दिखता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। राष्ट्रीय जीवन जैविक शक्तियों से परिचालित है। हमें उस जीवनधारा को ही सबल बनाना होगा और बाकी सब उसी पर छोड़ देना होगा। बुद्ध ने त्याग का सन्देश दिया और भारत ने सुना, तथापि एक हजार वर्षों के भीतर ही वह अपने समृद्धि की चरम सीमा तक पहुँच गया। भारत में त्याग ही राष्ट्रीय जीवन का स्रोत है। और सेवा तथा मुक्ति इसके उच्चतम आदर्श हैं। हिन्दू माता सबसे अन्त में भोजन करती है। विवाह व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है, बल्कि जाति एवं राष्ट्र के कल्याण के लिए है। आधुनिक सुधारकों में से कुछ के द्वारा इस समस्या के समाधान में असफल एक प्रयोग में लगना "वे आहुतियाँ हैं, जिन पर से होकर राष्ट्र को चलना है।"
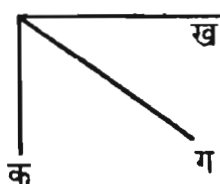
इसके बाद बातचीत का सिलसिला फिर बदला और हास-परिहास, चुटकुलों तथा कहानियों की ओर मुड़ गया। हम हँसते हुए सब सुनते जा रहे थे कि नावें आ पहुँची और उस दिन की बात वहीं समाप्त हुई।

उस पूरे अपराह्न तथा रात के समय स्वामीजी अस्वस्थ होकर अपनी नौका में लेटे रहे। परन्तु अगले दिन जब हम बिजबिहार के मन्दिर के पास उतरे, जहाँ पहले से ही अमरनाथ के यात्रियों की भीड़ लगी हुई थी, तो वे थोड़े समय के लिए हमारे बीच आये। उन्होंने अपने बारे में बताया – "चट बीमार पड़ना और पट स्वस्थ हो उठना" – यही सदा से उनकी विशेषता रही है। इसके बाद दिन के अधिकांश समय वे हमारे बीच ही रहे और अपराह्न में हम इस्लामाबाद पहुँच गये।

एक सेव के उद्यान के पास हमारी डोंगियाँ बाँध दी गयी। पानी के किनारे तक घास उगी हुई थी और उसके बीच बीच में सेव, नाशपाती तथा प्लम के वृक्ष बिखरे हुए थे। हिन्दू राजा प्रत्येक गाँव के छोर पर इन वृक्षों को लगाना आवश्यक समझते थे। हमें लगा कि वसन्त के मौसम में यह स्थान अवश्य ही अविलियन द्वीप की घाटी के समान हो जाता होगा – "जहाँ कोई शिला, वर्षा या बर्फ नहीं पड़ती, और न जोर की हवा ही बहती है;

१. जिन लोगों ने ये बातें सुनी, उनमें से एक ने बाद में दो पारसी लोगों को मुग्धभाव में स्वामीजी के चरणों में बैठकर उनके मुख से अपने धर्म का इतिहास सुनते देखा और वह इस विषय में स्वामीजी ज्ञान के विस्तार तथा विशुद्धता को जानने का एक अपूर्व सुअवसर मिला था।

परन्तु यह विस्तृत चरागाहों के बीच, आनन्दपूर्ण रमणीय उद्यानों, लतावेष्ठित कुंजों तथा ग्रीष्मकालीन समुद्र से मण्डित है।"[२]

हम दो जन जिस बजरे (हाउसबोट) में निवास करते थे, उसे इतनी दूर ले जाना सम्भव नहीं था, अत: वह ऊँची बाड़ों के बीच नदी के गहरे तथा तेज धार वाले हिस्से में जाकर ठहर गया। उसके बाद दोनों तरफ नये धान की अद्भुत हरियाली के बीच, पोपलर वृक्षों के नीचे से होकर एक छोर से दूसरे छोर तक टहलना क्या ही मनोरम बन पड़ा था!

उस दिन अपराह्न में गोधूलि के समय सेव के वृक्षों के बीच बैठी छोटी-सी टोली के बीच आकर एक जन ने आचार्यदेव को उनकी एक अत्यन्त दुर्लभतम अवस्था में पाया – वे धीरा माता तथा जया के साथ अपने व्यक्तिगत जीवन की बातों में डूबे हुए थे। अपने हाथों में पत्थर के दो टुकड़े उठाये हुए वे बता रहे थे कि जब वे स्वस्थ रहते हैं, तो उनका मन इधर-उधर की बातों को लेकर रह सकता है या फिर उनकी इच्छाशक्ति कम सुदृढ़-सी लग सकती है, परन्तु बीमारी या पीड़ा का थोड़ा-सा भी स्पर्श होने पर अथवा क्षण भर के लिए भी मृत्यु के सम्मुखीन होते ही – "(प्रस्तर-खण्डों को टकराते हुए) मैं ऐसा कठोर हो जाता हूँ, इसलिए कि मैंने ईश्वर के चरणों का स्पर्श किया है।" और इसके साथ ही उनकी इस धीरता के प्रसंग में एक जन को (मुझे) वह घटना याद आ गयी, जब इंग्लैण्ड में एक बार वे एक अंग्रेज पुरुष तथा एक महिला के साथ एक मैदान में टहलने गये थे और एक क्रुद्ध साँड़ उनके पीछे दौड़ने लगा। वे अंग्रेज सज्जन तेजी से भागकर पहाड़ी की दूसरी ओर जाकर सुरक्षित खड़े हो गये। महिला भी जहाँ तक हो सका भागीं, परन्तु कुछ दूर जाने के बाद आगे बढ़ने में असमर्थ हो भहराकर गिर पड़ीं। स्वामीजी ने यह सब देखा और उन्हें बचाने का और कोई उपाय न देख हाथ बाँधे उनके सामने तनकर खड़े हो गये और सोचने लगे, "तो, आखिरकार अन्त आ ही पहुँचा।" बाद में उन्होंने बताया था कि तब उनका मन इस हिसाब में लगा हुआ था कि साँड़ उन्हें कितनी दूर फेंकेगा। परन्तु वह जानवर कुछ कदम पूर्व ही सहसा ठहर गया और अपना सिर उठाकर निराश लौट गया।

वैसे वे स्वयं ऐसी घटनाओं पर ध्यान नहीं देते थे, परन्तु उनकी तरुणाई में भी एक ऐसी ही घटना हुई थी। उस समय कलकत्ते की सड़कों पर एक गाड़ी का घोड़ा बिदककर भागा जा रहा था। उन्होंने चुपचाप आगे बढ़कर उसे पकड़ लिया और इस प्रकार उसके पीछे गाड़ी में बैठी हुई महिला की प्राणरक्षा की थी।

पेड़ों के नीचे की घास पर बैठे हम लोग विभिन्न चर्चाओं में डूबे रहे और एक से दो घण्टे तक कभी हल्की, तो कभी गम्भीर बातें होती रहीं। हमने वृन्दावन के बन्दरों के चालाकियों की बातें सुनीं। और उनके परिव्राजक जीवन के दौरान हुई वे घटनाएँ भी व्यक्त हुईं, जब दो विभिन्न अवसरों पर उन्हें सहायता का स्पष्ट पूर्वाभास मिला था और वे दोनों सत्य सिद्ध हुईं। उनमें से एक का मुझे स्मरण है। सम्भवत: यह उस समय घटी थी, जब उन्होंने अजगरी वृत्ति स्वीकार करके कुछ भी न माँगने का व्रत लिया था। कई (सम्भवत: पाँच) दिनों से वे उपवासी थे। जब वे भूख से पीड़ित हो एक रेल्वे स्टेशन में मरणासन्न पड़े थे, तभी सहसा उनके मन में आया कि उन्हें उठकर एक विशेष मार्ग पर चल देना चाहिए और वहाँ एक आदमी उनके लिए सहायता लेकर आयेगा। उन्होंने ऐसा ही किया

२. टेनिसन की Morte d' Arthur शीर्षक कविता से

और उनकी भोजन की थाली लिए एक व्यक्ति से भेंट हुई । उस व्यक्ति ने आकर निकट से उनका निरीक्षण करते हुए कहा, "क्या वे आप ही हैं, जिनके लिए मुझे भेजा गया है?"

फिर एक बच्चे को हमारे पास लाया गया, जिसका हाथ बुरी तरह कटा हुआ था और स्वामीजी ने उस पर बूढ़ी माँओं का नुस्खा प्रयोग किया । उन्होंने घाव को पानी से धोकर खून का बहना रोकने के लिए उस पर कपड़े की राख लगा दी । ग्रामवासी सन्तुष्ट तथा आश्वस्त होकर लौट गये और साथ ही हमारी सांन्ध्य-वार्तालाप का भी समापन हो गया ।

२३ जुलाई । अगले दिन सुबह तरह तरह के कुलियों का एक दल सेव के वृक्षों के नीचे एकत्र हुआ और हमें मार्तण्ड के खण्डहरों तक ले जाने को कुछ घण्टों तक प्रतीक्षा करता रहा । यह एक बड़ा ही अद्‌भुत प्राचीन भवन था – स्पष्टत: वह मन्दिर की अपेक्षा मठ ही प्रतीत हो रहा था । वह एक अपूर्व परिवेश के बीच स्थित है और जिन विभिन्न युगों से होकर इसका विकास हुआ है, उनकी विभिन्न निर्माण-पद्धतियों के स्पष्ट एकत्रीकरण से वह बड़ा रोचक बन पड़ा था । पश्चिम में सूर्य को पीछे रखते हुए जब दोपहर के समय हमने भीतर प्रवेश किया तो मेहराबों के नीचे जो गहरी काली छाया फैली थी, उसे मैं कभी भूल नहीं सकती । एक के पीछे एक कुल तीन तोरण थे और अन्तिम वाले के दो-तिहाई ऊँचाई पर एक भारी सीधी रेखाओं से युक्त रोशनदान का ऊपरी छोर था । सभी तोरण त्रिपत्री थे, परन्तु हमारे प्रवेश करते समय केवल पहले तथा दूसरे में ही यह लक्षित हो रहा था । स्पष्टत: ऐसा लग रहा था कि पवित्र सोतों के चारों ओर बड़े बड़े प्रस्तरखण्डों मे निर्मित तीन छोटे आयताकार मन्दिरों से ही यहाँ शुरुआत हुई होगी । इन तीन प्रकोष्ठों का निर्माण सीधी रेखा की पद्धति में सादे ढंग से हुआ था । बाद के किसी राजा ने मूलभूत मन्दिरों में कोई हस्तक्षेप किये बिना ही इन तीनों के मध्य तथा पूर्वी छोर को लेकर एक चहारदीवारी बनवा दी थी, जिसमें नीची छतवाले प्रत्येक द्वार के ऊपर एक त्रिपत्री तोरण का निर्माण हुआ था और सामने के प्रवेशद्वार पर एक लम्बे त्रिपत्री तोरण के साथ एक बृहत्तर मध्य भाग जोड़ दिया था । प्रत्येक भवन इतना परिपूर्ण था और दोनों युगों के निर्माणकार्य का उद्देश्य इतना स्पष्ट था कि मन्दिर के विन्यास पर परम आनन्द का अनुभव करते हुए एक जन (मैं) उसका रेखाचित्र अंकित किये बिना नहीं रह सकी । मुख्य भवन के चारों ओर बना हुआ धर्मशाला या बरामदा आकृति में असाधारण रूप से गॉथिक[३] ढंग का था । और जिस किसी ने इसे तथा उत्तरी भारत में मुसलमानों के मकबरे देखे हैं, उसके मन में तत्काल ही यह बात आ जाती है कि वह बरामदा एक पूरे मठ के रूप में कल्पित हुआ था और यद्यपि हमारी (यूरोपीय) ठण्डी जलवायु में इसे इस उद्देश्य से नहीं रखा जा सकता, उसका अस्तित्व हमें दिन-रात इस बात का स्मरण कराता रहता है कि प्राच्य जगत ही संन्यास की आदि भूमि है । क्षण भर में ही स्वामीजी निरीक्षण तथा सिद्धान्तों में अत्यन्त व्यस्त हो गये और हमें दिखाया कि जो छज्जा मन्दिर के प्रवेशमार्ग से आरम्भ होकर मध्य भाग से होते हुए पश्चिम की ओर चला गया है, वह दोनों तोरणों के ऊँचे त्रिपत्रियों से तथा एक चित्रवल्लरी से जुड़ा हुआ है । फिर उन्होंने हमें देवदूतों से युक्त पैनल भी दिखाये और हमारे देखते-ही-देखते उन्हें वहाँ सिक्के मिल गये । सूर्यास्त की रोशनी में वापस लौटना भी बड़ा मनोरम बन पड़ा था । पिछले तथा अगले दिन जो बातें हुईं, उनके कुछ कुछ अंश मुझे अब भी याद आ रहे हैं ।

३. प्राचीन जर्मन भवन-निर्माण पद्धति

"यूनानी या अन्य कोई भी राष्ट्र, कभी भी, जापानियों के समान स्वदेशप्रेम को पराकाष्ठा तक नहीं ले जा सका। वे लोग बातों से नहीं, कार्य से दिखाते हैं – देश के लिए सर्वस्व त्याग देते हैं। जापान के सामन्त वर्ग में आज भी ऐसे लोग हैं, जिन्होंने साम्राज्य की अखण्डता स्थापित करने के लिए चुपचाप अपनी जागीरदारी छोड़ दी और किसानों का जीवन बिता रहे है।[४] और जापानी युद्ध में एक भी देशद्रोही नहीं मिला। इस पर जरा विचार तो करो!"

फिर कुछ लोगों द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त कर पाने की असमर्थता पर वे बोले, "मैंने देखा है कि लज्जाशील तथा संकोची लोग उत्तेजित होने पर सर्वदा ही सर्वाधिक पाशविक आचरण करते हैं।"

इसके बाद स्पष्टत: संन्यास-जीवन तथा ब्रह्मचर्य के नियमों के प्रसंग में वे बोले, "जो संन्यासी कांचन के बारे में सोचता है और उसकी कामना करता है, वह मानो आत्मघात करता है।" आदि आदि।

२४ जुलाई। अगला चित्र इस प्रकार है – जंगल के बीच रात का अन्धकार छाया हुआ था, वृक्षों के नीचे देवदार के लकड़ियों का एक बड़ा अलाव जल रहा था, रात के काले अँधियारे के बीच दो-तीन श्वेतकाय तम्बू दिख रहे थे, दूर के अलावों के पास अनेक सेवकों की आकृति तथा आवाज गोचर हो रही थी और आचार्यदेव अपनी तीन शिष्याओं के साथ बैठे थे। वेरीनाग के मार्ग में, सेव-उद्यानों के नीचे से होकर मैदानों के किनारे किनारे चलते हुए, मुसलाधार वर्षा, बड़ी कठिनाई से प्राप्त धूप में दोपहर का भोजन और पाइन से आच्छादित पहाड़ी की तलहटी में स्थित अष्टकोणीय जलाशययुक्त जहाँगीर के प्राचीन भव्य महल के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु उस दिन का सबसे महत्वपूर्ण क्षण भोजन के बाद आया, जब तीर्थयात्रियों की टोलियों का अपने पूजन-सामग्री के साथ उधर से होकर गुजरना बन्द हो गया और काफी देर बाद हम अकेले रह गये। आचार्यदेव सहसा टोली में से एक की ओर उन्मुख होकर बोले, "आजकल तुम अपने स्कूल का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं करती। क्या बीच बीच में तुम उसे भूल जाती हो? देखो, मेरे पास सोचने को बहुत कुछ है। एक दिन मैं मद्रास की ओर ध्यान देता हूँ तथा वहाँ के कार्य के विषय में सोचता हूँ और दूसरे दिन मैं अपना पूरा मन अमेरिका या इंग्लैण्ड या लंका अथवा कलकत्ता को देता हूँ। इस समय मैं तुम्हारे कार्य के विषय में सोच रहा हूँ।"

ठीक तभी आचार्यदेव को भोजन के लिए बुला लिया गया और उनके लौटने के बाद ही उनके द्वारा उठाये प्रश्न का उत्तर दिया जा सका।

काफी विचार के बाद जो अस्थायी योजना बनी थी कि छोटे स्तर पर उसका आरम्भ होगा, उदारता तथा सर्वग्राहिता के भाव को दूर रखने की उसमें निर्णायक प्रवृत्ति होगी और शिक्षादान का यह पूरा प्रकल्प धर्मजीवन तथा श्रीरामकृष्ण की पूजा पर आधारित होगा।

उन्होंने सब कुछ सुना और फिर बोले, "तुम उत्साह को बनाये रखने के लिए ही तो साम्प्रदायिक भाव का आश्रय लोगी, है न! समस्त सम्प्रदायों के परे जाने के लिए तुम एक सम्प्रदाय बनाओगी। हाँ, मैं समझ रहा हूँ।"

---

४. मुझे लगता है कि यहाँ भूल हुई है। जापान के समुराई लोगों ने अपनी जागरदारी नहीं, बल्कि अपने राजनीतिक विशेषाधिकार छोड़ दिये थे। – निवेदिता।

इसमें स्पष्ट रूप से कठिनाइयाँ हैं । विभिन्न कारणों से उक्त स्तर पर वह योजना प्राय: असम्भव-सी प्रतीत हो रही थी । परन्तु इस समय इसी बात पर ध्यान देना होगा कि उसका ठीक ठीक संकल्प किया जाय और यदि योजना उचित है, तो उसके साधन तथा उपाय निश्चित रूप से जुट जायेंगे ।

यह सब कुछ सुनने के बाद वे थोड़ा ठहरकर फिर कहने लगे, "तुम मुझे इसकी समालोचना करने को कहती हो, परन्तु ऐसा मैं नहीं कर सकता । क्योंकि मैं तुम्हें भी उतना ही ईश-प्रेरित समझता हूँ, जितना कि स्वयं को । अन्य धर्मों तथा हममें केवल इतना ही भेद है । अन्य धर्मावलम्बियों का विश्वास है कि केवल उनके संस्थापक ही ईश-प्रेरित हैं और हमारा भी ऐसा ही मत है । परन्तु वे जितने प्रेरित हैं, उतना ही मैं भी हूँ, तुम भी हो और तुम्हारे बाद तुम्हारी बालिकाएँ तथा उनकी छात्राएँ भी होंगी । अतएव तुम जो सर्वोत्तम समझो, मैं उसी कार्य में तुम्हारी सहायता करूँगा ।"

इसके बाद वे धीरा माता और जया की ओर उन्मुख होकर उस विश्वास की महत्ता पर बोलने लगे, जिसके साथ वे उस शिष्या के हाथो में नारियों की उन्नति का भार सौंपकर पुन: पश्चिम जायेंगे, और किस प्रकार वह पुरुषों के लिए आरब्ध कार्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होगा । हमारे बीच उक्त सेविका की ओर मुड़कर वे बोले, "हाँ, तुम्हारे अन्दर विश्वास है, परन्तु उस ज्वलन्त उत्साह का अभाव है, जिसकी तुम्हें आवश्यकता है । तुम्हें **'दग्धेन्धनिवानलम्** – अग्नि में दग्ध ईंधन के समान' होना होगा । शिव ! शिव !" यह कहकर उन्होंने महादेव के आशीर्वाद की प्रार्थना करते हुए हमें 'शुभरात्रि' कहकर विदा ली और हम भी अविलम्ब सोने चली गयीं ।

२५ जुलाई । अगले दिन हमने बड़े सबेरे जलपान समाप्त किया और अच्छाबल के लिये चल पड़े । हममें से एक को स्वप्न आया था, जिसमें उसके पुराने रत्न खोकर फिर से नये और चमचमाते रूप में प्राप्त हो गये थे । परन्तु स्वामीजी ने मुस्कराते हुए यह वर्णन रुकवा दिया और बोले, "ऐसे अच्छे स्वप्न की बात बतानी नहीं चाहिए ।"

अच्छाबल में हमें जहाँगीर के और भी कई उद्यान देखने को मिले । पता नहीं उनका प्रिय विश्रामस्थल यहीं था या वेरीनाग में?

हमने उद्यानों के चारों ओर भ्रमण किया और पठान खाँ के जनानखाने के सम्मुख एक स्थिर जलाशय में स्नान किया । उसके बाद हमने प्रथम उद्यान में भोजन करने के बाद घुड़सवारी करते हुए दोपहर में इस्लामाबाद चले आये ।

दोपहर में जब हम वहाँ बैठकर भोजन कर रहे थे, तभी स्वामीजी ने अपनी कन्या को अपने साथ अमरनाथ जाकर शिव के चरणो में निवेदित होने का निमंत्रण दिया । धीरामाता ने भी हँसकर अपनी सहमति व्यक्त की और अगले आधे घण्टे तक आनन्द तथा बधाइयों का दौर चला । पहले से ही निश्चित हो चुका था कि हम सभी पहलगाम में जाकर स्वामीजी के तीर्थयात्रा से लौटने की प्रतीक्षा करेंगे । अत: उसी संध्या को हमने नावों तक पहुँचकर सामान बाँधा, पत्र लिखे और अगले दिन दोपहर में बावन के लिये चल पड़े ।

□(क्रमश:)□

जनसाधारण की उन्नति

अनुपम द्विवेदी

कल नुमाइश में मिला, वो चीथड़े पहने हुये।
मैंने पूछा नाम तो, बोला कि हिन्दुस्तान है॥ — दुष्यन्त कुमार

जी हाँ – हिन्दुस्तान! हमारा देश हिन्दुस्तान, कभी विश्व का जगद्गुरु रहा हिन्दुस्तान, सोने की चिड़िया कहलानेवाला हिन्दुस्तान। किन्तु आज तो स्थिति बिल्कुल ही विपरीत है। आज समस्याओं का नाम हिन्दुस्तान है। बिखरा राष्ट्र, विघटन, लार्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति, गुलामी की मानसिकता, अंग्रेजी का प्रभुत्व, पश्चिमी सभ्यता, तकनीक आदि आदि - यही सब तो प्रबल है आज हिन्दुस्तान में।

भारत का मूल राष्ट्रीय समस्या और संकट है – निम्न, पददलित, शोषित साधारण मनुष्यों का भयकर दारिद्रय एवं चरम अशिक्षा। स्वामीजी का समग्र आन्दोलन ही इस अपढ़, पीड़ित तथा निर्धन जनता को लेकर है। इस अवहेलित, पददलित, जनसाधारण की उन्नति को ही उन्होंने एकमात्र जातीय कर्तव्य और लक्ष्य घोषित किया। उन्होंने स्पष्ट स्वर में कहा – ''आम जनता को शिक्षित तथा उन्नत करना ही राष्ट्रीय जीवन-गठन का मार्ग है। हमारे समाज-सुधारकगण तो समझ ही नहीं पा रहे हैं कि घाव कहाँ है? मूल बात यह है कि झोपड़ियों में निवास करनेवाला सच्चा राष्ट्र अपना व्यक्तित्व तथा मनुष्यत्व खो बैठा है।'' उन्होंने कहा – ''मुझे लगता है कि जनसाधारण के प्रति यह उपेक्षा एक राष्ट्रीय पाप है एवं भारत के पतन का यही एक कारण है। जब तक भारतीय जनगण की शिक्षा और भोजन-वस्त्र की ठीक व्यवस्था नहीं होती, तब तक कोई भी राजनीति सफल नहीं हो सकती।''

राष्ट्रीय चरित्र की इस त्रुटि के प्रति सभी की दृष्टि आकर्षित करने के लिए उन्होंने इतिहास के पृष्ठ उलटकर दिखाया और कहा कि पृथ्वी पर धर्म हिन्दू धर्म की तरह मानवता की महिमा की इतने उच्च रूप में घोषणा नहीं करता और साथ ही कोई भी धर्म हिन्दू धर्म की तरह शोषित एवं दरिद्र श्रेणी को इस तरह पददलित भी नहीं करता। आज के भौतिकवादी समय में, जब सिर्फ लोग अपने ही हित साधन में लगे हैं, इन्हीं के हृदय में अनुभव सचारित करने के लिए ही उन्हें लक्ष्य करके मानो कहा – ''क्या तुम अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आए हैं ? क्या तुम यह सोचकर बेचैन हो जाते हो? ... और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम, यश, कुल, पुत्र, धन-सम्पत्ति यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर हो गये हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि हाँ - तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है ! हाँ केवल पहली सीढ़ी पर।''

हमारा आर्थिक क्षेत्र भी दुर्व्यवस्थाओं से घिरा है। गरीबी दूर करने के हमारे प्रयासों के बावजूद जनसाधारण की दशा बद-से-बदतर होती जा रही है। कभी कभी हम सुनते हैं कि

'हमारी राष्ट्रीय आय में ४ से ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।' हो सकता है यह सही हो, पर गरीबों को इसका लाभ नहीं मिलता, क्योंकि इसका अल्प अंश ही उन तक पहुँच पाता है। इस समस्या से निपटने के लिए मात्र सरकार का मुँह जोहने से काम नहीं चलेगा, बल्कि समाज को एक होकर इस कार्य को अपने हाथ में लेना होगा। धनिक तथा अभिजात्य वर्ग को उनकी दशा सुधारने के लिए अग्रसर होकर उनकी सहायता करनी होगी। स्वामीजी के शब्दों में– "एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुआ, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखानों से, हाट से बाजार से।" ऐसा भारत वेदान्त का विज्ञान के साथ समन्वय भी करेगा। महान वैज्ञानिक आइन्सटीन के शब्दों में– "विज्ञान को नैतिकता के क्षेत्र से अलग रखने की बात करनेवाले सत्य का तिरस्कार करते हैं।"

वर्तमान में हमारे समाज में धर्मान्धता भी समस्या है। धर्म अपने मूल उद्देश्य से भटका हुआ प्रतीत होता है। धर्म अब सिर्फ समस्याएँ उत्पन्न करने का नाम रह गया है। स्वामीजी ने इन धार्मिक रूढ़िवादियों पर कुठारघात करते हुए कहा है – "ईश्वरलाभ के लिए तुम कहाँ जाओगे? ये दीन, दरिद्र और दुर्बल – ये सभी क्या ईश्वर नहीं हैं? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नही करते ?" और इस रूप में उन्होंने एक धर्म सूत्र मानव धर्म में लोगों को बाँधने का स्तुत्य प्रयास किया। इसी महामंत्र से दीक्षित होकर ही स्वामीजी के कण्ठ से उद्घोषित हुआ नव-युग का प्राणमंत्र – "May I be born again and again and suffer thousands of miseries, so that I may worship the only god that exits, the only god I belive in, the sum total of all souls and above all, my god the wicked, my god the miserable, my god the poor of all the races, of all species, is the special object of my worship."

भारत तथा विश्व में आज हम जो ऐसी घटनाएँ देखते हैं, वे कोई नयी नहीं है। यदि आप विश्व के इतिहास का अवलोकन करें तो आप पायेंगे कि ऐसी घटनाएँ युग युग में घटती रही हैं। स्वय स्वामीजी के शब्दों में – "सागर में जहाँ एक ओर उत्तुग तरंगों का नर्तन होता है वहीं दूसरी ओर अथाह खाई भी होती है। उच्च तरंग उठती है और विलीन हो जाती है। इसी प्रकार तरंग पर तरंग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती है। विश्व के घटना प्रवाह में भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है, किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है और पतन का विस्मरण हो जाता है। परन्तु विश्व की गति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं।"

ऐसी परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए? क्या अब भी इस प्रश्न की जरूरत है? शायद नहीं। जरूरत है कर्म की, जरूरत है उठ खड़े होने की, जरूरत है सघर्ष की। स्वामीजी के शब्दों में – "ऐ महान आत्माओ – जागो! जागो! संसार दुखाग्नि से जला जा रहा है। क्या तुम सोये रह सकते हो?" आज राष्ट्र पुकार रहा है –

> यह मृत शान्ति असह्य हो उठी, छिन्न इसे कर दे तू आज।
> ओ मंगलमय, पूर्ण सदाशिव, रुद्र-रूप धर ले तू आज॥ – सियारामशरण गुप्त

□ □ □

हमारी शिक्षा (८)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारां प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया। १९४५ ई. में प्रथम प्रकाशन के बाद से अब तक यह ग्रन्थ शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है। 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

११. नारियों की शिक्षा (पूर्वार्ध)

''भारतीय नारियों को सीता के पदचिह्नों पर विकसित होकर अपनी उन्नति का प्रयास करना होगा। यही एकमात्र पथ है।''

''जैसा कि हम प्रतिदिन देखते हैं कि यदि हमारी नारियों को सीता के आदर्श से अलग करके उन्हें आधुनिक भावों में रंजित करने का प्रयास किया जाता है, तो वह तत्काल विफल होता है।'' — *स्वामी विवेकानन्द*

भारतीय नारियों के समक्ष अनेक समस्याएँ हैं, परन्तु उनमें से कोई भी ऐसी गम्भीर नहीं हैं, जिन्हें 'शिक्षा के जादुई मंत्र' से सुलझाया न जा सके। निश्चय ही उन्हें स्वयं ही अपनी समस्याओं का समाधान करना होगा। पुरुष महिलाओं की दृष्टि से नहीं देख सकते, और इसीलिए उन्हें महिलाओं की समस्याओं का समाधान करने में जल्दबाजी नहीं दिखानी चाहिये। केवल महिलाएँ ही अपनी स्वयं की आवश्यकताएँ समझ सकती हैं और इस कारण उनमें आवश्यक सुधार आरम्भ करने का कार्य उन्हीं पर छोड़ देना होगा। उनमें इतने कठिन तथा दूभर कार्य को सँभालने की कुशलता विकसित करने के लिए उन्हें आवश्यकता है तो बस शिक्षा की और वह भी उचित प्रकार की होनी चाहिए।

परन्तु उनके लिए उचित प्रकार की शिक्षा कैसी हो सकती है? भारतीय नारियों की आवश्यकता को पूरी कर सकनेवाली शिक्षा का उद्देश्य तथा क्षेत्र क्या हो? वर्तमान समय में इस बात पर बड़ा ही तीव्र मतभेद है। एक ओर तो हमारी बुद्धिजीवी महिलाओं में से कुछ ठोस रूप से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की पक्षधर हैं, परन्तु दूसरी ओर कुछ अन्य ऐसी महिलाएँ शिक्षा के साथ अपरिहार्य रूप से आनेवाली सांस्कृतिक विजय के विचार से ही आतंकित महसूस करती हैं। इस विवादास्पद मुद्दे पर किसी भी न्यायसंगत निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व हमें आधुनिक विचारधारा और साथ-ही-साथ प्राचीन भावों तथा आदर्शों के प्रकाश में इन दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोणों की सावधानीपूर्वक परीक्षा करनी होगी।

असीम स्वाधीनता के लिए सब में व्याकुलता इस युग की विशेषता है। संगठित समुदायों की तो बात ही क्या, यहाँ तक कि व्यक्ति भी अपनी स्वाधीनता की परिधि को

बढ़ाने में लगे हैं । जो लोग शताब्दियों से दलित तथा शोषित होते रहे, वे भी हर प्रकार के अत्याचार से पूर्ण मुक्ति के अपने जन्मसिद्ध अधिकार का दावा कर रहे हैं । कोई भी अब अपनी निम्नतर स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहता । जो लोग – सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक – हर प्रकार के भेदभावपूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कष्ट भोग रहे थे, उन सभी के समक्ष पूर्ण समानता ही लक्ष्य है ।

पिछली शताब्दी के अन्त में पश्चिम के उन्नत देशों की नारियों ने अनुभव किया कि पुरुषों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है । उन्होंने पाया कि पुरुष अभी तक उनका शोषण करते हुए उन्हें निकृष्ट स्थान देते आये हैं । अत: उन्होंने पीड़ित पक्ष के रूप में अपने को संगठित किया और पुरुषों के साथ अपनी पूर्ण समानता प्राप्त करने के प्रयास में लग गयीं ।

सम्भवत: यह प्रक्रिया इब्सन से प्रारम्भ हुई, जिनका A doll's house (गुड़ियाघर) पुरुषों के अपार प्रभुसत्ता के समक्ष पाश्चात्य नारियों की चरम अधीनता की गम्भीरता के विषय में उनकी आँखें खोलनेवाला सिद्ध हुआ । पूरे महाद्वीप में 'इब्सन-समितियाँ' फैल गयीं और उन्होंने बहुत-सी महिलाओं को पुरुषों के अत्याचार के खिलाफ विद्रोह करने को प्रेरित किया । बर्नार्ड शा भी अविलम्ब आ पहुँचे, जिन्होंने अपनी चुटीली लेखनी के द्वारा इस सामाजिक क्रान्ति के दौर को वेग प्रदान किया । एक विशेष क्षेत्र में पुरुषों से समानता की स्थापना के लिए नारियों की क्रान्तिकारी आकांक्षा के एक विस्फोट के रूप में इस सदी के आरम्भ में हुए इंग्लैण्ड के सफरगेट आन्दोलन का उदाहरण दिया जा सकता है ।

यह मतवाद पूरे यूरोप तथा अमेरिका में जंगल की आग के समान फैल गया और पश्चिम की महिलाओं के लिए पुरुषों के साथ पूर्ण समानता का मार्ग आलोकित करने लगा । पाश्चात्य महिलाएँ अपने चूल्हे-चक्कियों के परम्परागत दायरे से बाहर आकर जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ स्पर्धा करने लगीं । क्रिया का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं बचा, जो पुरुषों के लिए विशेष रूप से आरक्षित हो । सेना तथा पुलिस में भी पुरुषों के साथ-ही-साथ महिलाओं की भी भर्ती होने लगी है । लगता है कि प्रकृति के प्रति भी एक विद्रोह आसन्न है । कुछ तो मातृत्व को भी खुले रूप से महिलाओं के आत्मगौरव के प्रति असम्मानसूचक मानती हैं । वे ही एक ऐसे दुर्घटना का फल क्यों भोगें, जिससे पुरुष को छूट मिली हुई है? क्या इससे पुरुषों के साथ उनकी समानता पर आँच नहीं आती?

वैसे पाश्चात्य जगत की अधिकांश महिलाओं ने पुरुषों के साथ समानता की अपनी दौड़ में काफी राह तय कर ली है । यद्यपि विभिन्न देशों में उनकी प्रगति की अवस्था में भेद है, परन्तु यह भेद केवल परिमाण में है, प्रकार में नहीं । देखने में आया कि हिटलर तथा मुसोलिनी के अधीन युद्धप्रेमी जर्मनी तथा इटली ने मातृत्व पर एक पुरस्कार भी निर्धारित किया और कुछ काल तक महिलाओं को घर के परम्परागत दायरे में ही रहने को बाध्य किया । परन्तु महिलाओं की पुरुषों के साथ समानता की माँग को जो अस्थायी धक्का लगा था, इन दोनों देशों के राजनीतिक भाग्य में बदलाव आ जाने से सम्भवत: अब उसको पुन: बल मिलेगा । कहते है कि रूस व्यक्तिगत स्वाधीनता और विशेषकर यौन-सम्बन्धों की स्वाधीनता की उपलब्धि में काफी प्रगति कर चुका है । वहाँ पर विवाह को एक सामाजिक-धार्मिक संस्था के स्थान पर केवल एक कानूनी रचना के रूप में देखा जाता है । यह एक

दिन के लिए हो सकता है, या केवल एक रात के लिए भी, और इसमें दोनों ही पक्षों को एक-दूसरे के विरुद्ध कोई भी गम्भीर आरोप सिद्ध किये बिना ही आसानी से विघटन की सुविधा होगी । तथापि यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि व्यक्ति को एक बार में केवल एक ही जीवनसंगी लेने की अनुमति देकर एकपत्नीवाद के ईसाई सिद्धान्त को ईमानदारी के साथ सुरक्षित रखा गया है । वैसे यदि बर्ट्रेण्ड रसेल की चले, तो इस शर्त को भी पूरी तौर से मिटाया जा सकता है और विवाह के पुराने व्रतों को लेकर चिन्तित होने के स्थान पर पुरुषों तथा नारियों को यथेच्छा रहने के लिए छोड़ दिया जा सकता है । कौन कह सकता है कि निकट भविष्य में रसेल को पाश्चात्य समाज में इस बिल्कुल ही नयी व्यवस्था को अपना लेनेवाले यथेष्ट संख्या में ऐसे अनुयायी नहीं मिल जायेंगे? वैसे यह एक चरम वामपन्थी चित्र है । वस्तुत: केन्द्र तथा दक्षिणपन्थ भी है, जो जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान अपनी माँगों को अधिक सन्तुलित तथा संयमित बताते हैं । तथापि – वामपन्थी, केन्द्रीय तथा दक्षिणपन्थी – इन सभी के माध्यम से आज के पाश्चात्य जगत के एक सार्वभौमिक लक्षण के रूप में नारी का पुरुषों के साथ समानता का दावा ही अभिव्यक्त होता है ।

पाश्चात्य नारियों के दृष्टिकोण में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन को देखते हुए क्या भारतीय नारियों से इसके प्रभाव से अछूती रहने की आशा की जा सकती है? विशेषकर आज के सहज संचार के युग में, जबकि पश्चिम से हमारा सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ हो गया है, क्या यह सम्भव है कि भारतीय नारियाँ अलग-थलग रहकर अपने विशेष प्रकार के भावों तथा आदर्शों के साथ एक पृथक जीवन बिता सकें? इसके अतिरिक्त क्या उनके अपने विचार तथा आदर्श अनगढ़ तथा पिछड़े हुए नहीं हैं? क्या उनके स्थान पर प्रगतिशील पश्चिम से आयातित भावों तथा आदर्शों को नहीं स्थापित कर लेना चाहिए? ये ही हमारे प्रबुद्ध नारियों के एक वर्ग के सच्चे सन्देह हैं । अपनी पाश्चात्य बहनों के उदाहरण से प्रेरणा लेकर, वे भी तथाकथित पुरुषों के अत्याचार के खिलाफ बगावत का झण्डा उठानेवाली हैं । अपनी पश्चिमी बहनों की उपलब्धियों को सबके लिए अनुकरणीय मानकर उनकी प्रशंसा करते हुए वे प्रगतिशील परिवर्तन की दुहाई देते हुए दृढ़तापूर्वक विश्वास करती हुई-सी लगती हैं कि यही समय की तात्कालिक आवश्यकता है । जो कोई भी उनसे सहमत नहीं होता, उसे एक दकियानूसी परम्परा से ग्रसित एक निरुपयोगी फॉसिल करार दिया जाता है ।

परन्तु हमारे देश की शिक्षित महिलाओं में कुछ ऐसी भी हैं, जिनके मतानुसार एक व्यक्ति का भोजन दूसरे के लिए विष के समान भी हो सकता है; पाश्चात्य नारियों के लिए जो अच्छा है, यह आवश्यक नहीं कि वह उनकी भारतीय बहनों के लिए भी वैसा ही हो । पाश्चात्य महिलाओं के प्रगतिशील विचार तथा उपलब्धियाँ उनके अपने अतीत से, ऐसे भावों तथा आदर्शों से जुड़ी हैं, जो शताब्दियों की परम्परा से उनकी अपनी हो गयी हैं । जीवन के प्रति उनके वर्तमान दृष्टिकोण के पीछे एक ऐतिहासिक पृष्टभूमि है और निश्चित रूप से इसका सार्वभौमिक मूल्य नहीं हो सकता । भारतीय जीवन-पद्धति भी अनेक शताब्दियों के प्रयोगों तथा निरीक्षण का फल है और सम्भव है कि उसका इसके साथ समायोजन न हो सके । हो सकता है कि भारतीय नारित्व के आदर्श उनकी पाश्चात्य बहनों से मूलत: भिन्न हों । यदि ऐसा ही हो, तो पश्चिम में जो कुछ सामाजिक सम्बन्धों में प्रगतिशील उपलब्धि माना जाता है, सम्भव है वह जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रखनेवाली भारतीय नारियों के लिए अहितकर हो ।

परम्परा से बँधे रूढ़िवादी वर्ग के समान इस श्रेणी की शिक्षित भारतीय महिलाओं के तर्क को सहज ही नहीं उड़ाया जा सकता। हमें ठहरकर गम्भीरतापूर्वक उस पर विचार करना होगा। पश्चिम के अन्धाधुन्ध अनुकरण को निश्चित रूप से हमारे देश में सामाजिक प्रगति के समतुल्य नहीं माना जा सकता। यह जरूरी नही कि हर आधुनिक चीज की नकल करना प्रगति की दिशा में सही कदम हो। पश्चिमी लोग जिस चीज को भी अच्छा बताकर घोषणा करते हैं, उसे अपने समाज में स्वीकार करने के पूर्व भारतीय आदर्शों की कसौटी पर कस लेना होगा। इस मान्यता में मूलत: कुछ भी गलत या अयौक्तिक नहीं है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने व्यंग्यपूर्वक कहा था, "यदि कल पैदा हुआ एक बालक जो कल ही मर जानेवाला है, मेरे पास आकर मुझसे अपनी सारी योजनाओं को बदल देने को कहे; और यदि मैं उस बच्चे की सलाह पर चलकर उसके विचारों के अनुसार अपने सारे परिवेश को बदल डालूँ; तो यह अन्य किसी की नहीं, मेरी ही मूर्खता होगी। विभिन्न देशों से हमारे पास आनेवाली अधिकांश सलाहें इसी प्रकार की हैं। इन ज्ञान-दम्भियों से कह दो, 'मैं तभी तुम्हारी बात सुनूँगा, जब तुम स्वयं ही एक स्थिर समाज बना लोगे। दो दिनों के लिए भी तुम एक विचार को पकड़े नहीं रह सकते, लड़ते रहते हो और असफल रहते हो; वसन्त काल में पैदा होने वाले कीड़ों के समान पैदा होते हो और उन्हीं के समान पाँच मिनट में मर जाते हो; बुलबुलों के समान पैदा होते हो और उन्हीं के समान समाप्त हो जाते हो। पहले हमारे समान एक स्थिर समाज का निर्माण करो। पहले ऐसे नियम और संस्थाएँ बनाओ, जिनकी शक्ति शताब्दियों तक क्षीण न हो। तभी तुमसे इस विषय पर बात करने का समय आयेगा, अभी तो मित्र! तुम तो मात्र एक चौंधियाए बालक मात्र हो'।"

सबसे बुरी बात तो यह है कि सशक्त एवं समृद्धिशाली पश्चिम को देखकर कभी कभी तो हम स्वयं ही चौंधिया जाते हैं। हीन-भावना से ग्रस्त होकर हम जल्दबाजी में उनके सामाजिक ढाँचे को उसमें अन्तर्निहित गुणों से कहीं अधिक ही मूल्य प्रदान करने लग जाते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि अपने क्षेत्र में उन्होंने जो प्रगति की है, सम्भव है अपने भावी अनुभवों के आलोक में वे स्वयं ही उनका त्याग कर दें। फिर पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में हम इस सत्य की भी अनदेखी कर जाते हैं कि हमारा समाज आध्यात्मिक आदर्शों की उस ठोस भूमि पर टिका है, जिनकी खोज हजारों वर्षों के धैर्यपूर्वक शोध के बाद ही हो सकी थी। हम पाश्चात्य लोगों की धुन पर भला क्यों नाचे? आधुनिक राष्ट्रों के प्रयोगात्मक सनकों के अनुसार हम क्यों उन्नत और अवनत हों? बल्कि क्या हमें स्वयं ही अपने भावों तथा आदर्शों की आवश्यकता को देखते हुए, उसी के अनुरूप अपना मार्ग निर्धारित नहीं कर लेना चाहिए?

हमारे आदर्श मूलत: आध्यात्मिक हैं। और ये ही विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार समय समय पर हमारी सामाजिक संरचना का निर्धारण किया करते हैं। मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए पैदा हुआ है और इस केन्द्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज को हर तरह का समायोजन करना होगा। यही हमारे जीवन-योजना का मूलभूत भाव है। बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति के बन्धनों से पूर्ण मुक्ति ही पुरुषों तथा नारियों – दोनों के लिए लक्ष्य निर्धारित किया गया है और जन्म-दर-जन्म उपयुक्त दिशा में प्रयासों के द्वारा इसकी उपलब्धि करनी होगी। व्यक्ति को प्रतिदिन देखना होगा कि क्या वह अपने मन पर

पूर्ण नियंत्रण के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है ! उसे वासनाओं तथा पूर्वाग्रहों, रागों तथा द्वेषों से ऊपर उठना होगा और दिव्यता की अभिव्यक्ति के लिए मन को यथेष्ट स्वच्छ तथा पवित्र बना लेना होगा । यही वह दिशा है, जिधर हमारे कदम बढ़ने चाहिए ।

यह भी स्मरणीय है कि जीवन तथा अस्तित्व के असंख्य विविधताओं पर आधारित होने के कारण आध्यात्मिक प्रगति का ऐसे आदर्श में सार्वभौमिक महत्व निहित है । यह सामान्यतया पूरी मानवता पर लागू होता है । पृथ्वी के किसी भी हिस्से में एकमात्र यही (आदर्श) व्यक्ति और साथ ही समाज के लिए अधिकतम शान्ति तथा कल्याण सुनिश्चित कर सकता है । सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण हेतु भारत के प्राचीन ऋषियों द्वारा चुने गये इस आदर्श का संरक्षण आवश्यक है । केवल इसी कारण इसका परित्याग नहीं किया जा सकता कि आज का पश्चिमी जगत इसकी प्रशंसा नहीं करता । हमें न केवल इसे संरक्षित तथा जीवन के समस्त क्रिया-कलापों के साथ सम्बद्ध करना होगा, बल्कि सार्वभौमिक शान्ति एवं कल्याण के हेतु मानवीय प्रगति को गति प्रदान करने के लिए सभी देशों में इसके प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठा लेना होगा ।

चूँकि हमारे यहाँ आध्यात्मिक प्रगति को ही जीवन की प्राथमिक आवश्यकता मान लिया गया है, अत: हम सब पर नि:स्वार्थता के मार्ग पर चलने की जिम्मेदारी आ जाती है । जितना ही व्यक्ति अपने छीना-झपटी तथा निरंकुशता की प्रवृत्ति वाले मन पर विजय प्राप्त करता है, उतना ही दिव्यता के समीप पहुँचता है । इसीलिए दूसरों के कल्याण हेतु सेवा के भाव से अपने स्वार्थ के बलिदान को हिन्दू जीवन योजना का मूल आधार बनाया गया है । त्याग और सेवा ही युगों युगों से हिन्दुस्तान के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन का आदर्श रहे हैं; और इसी ने प्रत्येक व्यक्ति के विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों में उसके दृष्टिकोण का निर्धारण किया है । यही व्यक्तियों की आध्यात्मिक प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं, समाज में स्थान तथा अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों के अनुसार उनके लिए निर्धारित विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्तव्यों का मूल स्वर है । पति-पत्नी और माता-पुत्र के बीच का सम्बन्ध परस्पर आधारित कर्तव्यों पर आधारित होता है । यह कर्तव्यनिष्ठा और इसके फलस्वरूप आनेवाला आत्मत्याग का भाव ही एक शुद्ध तथा शान्तिपूर्ण जीवन का निर्माण करता है । इसीलिए हिन्दू भारत द्वारा मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य मानी जाने वाली आध्यात्मिक प्रगति के लिए इसे एक अपरिहार्य आवश्यकता माना जाता है ।

मानव समाज में शान्ति, सामंजस्य, सहकारिता, सद्भाव तथा समन्वय की अवस्था लाने के लिए सबमें अपनी अपनी क्षमता के अनुरूप ऐसी कर्तव्यनिष्ठा की आशा की जा सकती है । इसके उल्टा है – अधिकार-बोध, जो प्राय: अहंकार के फूल जाने से उत्पन्न होती है । ऐसे अहंकार से प्रेरित होकर एक व्यक्ति या समूह सभी सर्वोत्तम वस्तुओं पर अपने लिए ही एकाधिकार जमाने का प्रयास करता है । और इसके लिए वह असीम स्वाधीनता की माँग करता है! इसके फलस्वरूप स्वाभाविक रूप से ही झगड़े तथा संघर्ष का उदय होता है । स्पर्धा, अनबन तथा कलह रोजमर्रा की चीजें बन जाती हैं । इसके फलस्वरूप दिव्य सम्भावनाओं से युक्त मानव-समाज जंगली जीवन के एक बीभत्स दृश्य में परिवर्तित हो जाता है । वैयक्तिक अथवा साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय या जातीय आधार पर संघटित अहंकार तथा स्वार्थ हमें ऐसी ही गर्हित अवस्था में पहुँचा देते हैं ।

यह सच है कि समुचित अधिकारों के प्रति चेतना तथा उन्हें स्थापित करने के लिए संघर्ष को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता । ऐसा संघर्ष पूर्णतः उचित प्रयास है । सच कहें तो, समूहों तथा व्यक्तियों के द्वारा स्वाधीनता के लिए वर्तमान दावा, एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शताब्दियों तक अत्याचार तथा शोषण के स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त हुआ है । इसमें कुछ भी गलत नहीं है । हर प्रकार के अत्याचार को मिटाना होगा । किसी भी व्यक्ति या समूह को शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित होने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए । ऐसे विकास के मार्ग में निहित-स्वार्थ वाले वर्गों द्वारा बनायी गयी सभी सीमाओं को दूर करना होगा । यहाँ तक तो ठीक है ।

तथापि इस अधिकार का दावा करते समय हमें सावधान रहना होगा कि कहीं हम स्थूल स्वार्थपरता के जाल में तो नहीं फँस रहे हैं । किसी भी हालत में प्रगतिशील स्वार्थपरता के द्वारा आध्यात्मिक प्रगति के केन्द्रीय उद्देश्य को धूमिल नहीं होने से बचाना होगा । हमें स्मरण रखना होगा कि किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा महत्ता, विशेषाधिकार, सत्ता और समृद्धि के लिए शोरगुल हमेशा ही न्यायोचित नहीं होता । सम्भव है कि यह हथियाने तथा धौंस जमाने की प्रवृत्ति से प्रेरित हो । अतः हमें इसमें तथा वास्तविक अन्याय से मुक्ति के न्यायोचित माँग के बीच एक सीमा-रेखा खींच देनी होगी । इसके अलावा हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि अधिकारों पर अत्यधिक जोर कहीं हमारे कर्तव्यबोध को धूमिल न कर दे । वह तो जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य को ही निरस्त कर देगा । वस्तुतः न्यायोचित उद्देश्य के लिए युद्ध करते हुए घृणा, ईर्ष्या, अहंकार तथा स्वार्थपरता से मुक्त रह पाना बहुत कठिन है और एक पूर्णतः सन्तुलित मस्तिष्क वाला व्यक्ति ही इसे कर पाने में सक्षम है । कम-से-कम हर समाज के नेतृवर्ग में तो मन का ऐसा आध्यात्मिक दृष्टिकोण तो होना ही चाहिए । नहीं तो, हो सकता है कि हम एक दूषित दायरे में ही घूमते रह जायँ । ऐसी सावधानी के बिना, यहाँ तक कि न्यायोचित उद्देश्य के लिए किया हुआ संघर्ष भी, हो सकता है कि हमें अन्ततः ऐसी पशुता के स्तर तक पहुँचा दे, जहाँ से पुनरुद्धार सम्भव ही न हो ।

दुर्भाग्यवश आज के पश्चिमी देशवासियों के मन में मानव जीवन का आध्यात्मिक उद्देश्य एक प्रमुख स्थान नहीं रखता । धन और सत्ता के अदम्य आकर्षण पर विजय पाना उनके लिए असम्भव हो उठा है । भौतिक समृद्धि व्यक्तियों तथा राष्ट्रों द्वारा आकांक्षित लक्ष्य हो गया है । और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे गन्दे-से-गन्दे साधनों का भी स्वागत करते हैं । यह निश्चित रूप से गलत दिशा में कदम है । ऐसा लगता है कि पाश्चात्य राष्ट्र इस समय अपने प्राचीन तथा मध्यकालीन आध्यात्मिक जड़ों से पूर्णतः कटकर भौतिक समृद्धि को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान कर रहे हैं और इस तुच्छ उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यावहारिकता तथा कूटनीति के नाम पर पाशविक शक्ति तथा हर प्रकार के छल-कपट का आश्रय ले रहे हैं ।

यदि हम अपनी आध्यात्मिक विरासत को भूलकर उन्हीं के कदमों में कदम मिलाकर चलें, तो सदा के लिए नष्ट हो जायेंगे । ऐसा करना हमें गँवारा नहीं होगा । अपने खुद के अस्तित्व के लिए हमें त्याग और सेवा की ध्वजा उठाये रखकर, हममें से प्रत्येक को अपनी अपनी क्षमता तथा विकास की अवस्था के अनुसार आध्यात्मिक परिपूर्णता के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होगा । स्वामी विवेकानन्द, म. गांधी, श्रीअरविन्द आदि कोई मध्यकालीन

सनकी नहीं थे। वे असामान्य स्तर के आधुनिक बौद्धिकता से सम्पन्न थे और इसके बावजूद इनके माध्यम से हमें पूर्णता के भारतीय आदर्श की एक झलक मिल जाती है। हमें इस आदर्श को पकड़े रहकर उनके पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। हम कभी यह न भूलें कि मानवीय स्तर पर केवल आध्यात्मिक दृष्टि से सबल लोग ही जीवित रह सकते हैं।

यही वह आध्यात्मिक आदर्श है, जिसका भारतीय नारियाँ युगों से अनुसरण करती आ रही हैं। पवित्रता, सरलता, पतिव्रत तथा दया ही ऐसे गुण हैं जिन्हें वे चिरकाल से किसी भी भौतिक वस्तु की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करती आ रही हैं। ईश्वर में विश्वास, आत्मत्याग और सेवा ही उनके चरित्र की विशेषता रहे हैं, और पातिव्रत ही उनके जीवन का पथप्रदर्शक मूलमंत्र रहा है। जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ये ही स्वाभाविक शर्तें हैं, जो कि भारतीय संस्कृति की प्राणस्वरूप हैं।

यहाँ तक कि भारतवर्ष की कृषक महिलाएँ भी आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उन्नत हैं। भले ही वे साक्षर हों या निरक्षर, पर एक दृष्टि से वे शिक्षित हैं। उनके पास वह आध्यात्मिक शक्ति है, जो कि ऊँचे उड़नेवाले अनेक बुद्धिजीवियों के लिए अगम्य है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से युक्त एक पाश्चात्य महिला ने एक बार भारतीय नारियों के बारे बड़ी सटीक टिप्पणी करते हुए कहा था कि आधुनिक दृष्टि से अशिक्षित होकर भी वे रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसी सन्तानें पैदा कर सकीं, जबकि पश्चिम की पढ़ी-लिखी माताएँ बहुत हुआ तो केवल महान राष्ट्रनिर्माताओं या सेनानायकों को ही जन्म दे सकी हैं। सचमुच ही यह एक महत्वपूर्ण बात है कि पश्चिम की किसी भी महिला को एक अवतार या पैगम्बर की माँ होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। अस्तु, हमारे सरल स्वभाववाली ग्राम्य महिला के प्रायः सहज भाव से उत्तराधिकार में प्राप्त आध्यात्मिक प्रवृत्ति को कम करके नहीं आँका जाना चाहिए और न ही उसे बुद्धूपने के समकक्ष समझा जाना उचित है।

माना कि वे आधुनिक ज्ञान के अनेक उपयोगी तत्त्वों से अपरिचित हैं, और सम्भव है कि वे अपने विश्वासों तथा व्यवहार में थोड़ी अपरिष्कृत हों। उचित शिक्षा के द्वारा इस अवस्था को निश्चित रूप से सुधारा जाना चाहिए। परन्तु ऐसा कुछ भी न लाया जाय, जो उनकी आध्यात्मिक विरासत को बिगाड़ दे। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शिक्षा के बिना भी वे सही मार्ग पर हैं; जबकि दुर्भाग्यवश हमारे युग की अनेक शिक्षित महिलाएँ सही मार्ग से अपनी पकड़ को खोकर, केवल विदेशी आचारों तथा प्रथाओं का अनुकरण करती हुई अपना जीवन केवल भौतिक उद्देश्य के साधन में लगा रही हैं। ये परवर्ती श्रेणी की महिलाएँ नहीं जानतीं कि वे अपने बहुमूल्य धातुओं का कचरे के साथ और अपने उच्च आध्यात्मिक आदर्शों को मुट्ठी भर धूल के साथ विनिमय कर रही हैं। सौभाग्यवश शिक्षित नारियों में से भी कुछ भौतिक सभ्यता के इस आक्रमण को झेल सकी हैं और अपने सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनी रहीं। वे शान्त, सन्तुष्ट, विनयशील, विचारशील, दयावान और धर्मानुरागी हैं। वे आधुनिक शिक्षा तथा संस्कृति के नाम पर प्रचलित पृथ्वी के हर विषय का अधपचा सतही ज्ञान रखनेवाली उन सतही, स्वार्थी, दबंग, चंचल, चुलबुली तथा कलहप्रिय महिलाओं से बिल्कुल भिन्न हैं।

सभी चीजों को उनके सही रूप में देखनेवाले और विभिन्न भावों तथा आदर्शों की तुलना तथा मूल्यांकन की क्षमता रखनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "इसी सीता

और सावित्री की जन्मभूमि पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि तथा भक्ति आदि देखने को मिलता है, वैसा पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ समय तक तो यही नही समझ मे आता था कि वे स्त्रियाँ हैं; देखने में ठीक पुरुषों के समान लगती हैं। वे ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं और प्रोफेसरी करती हैं! एकमात्र भारत में ही स्त्रियों में लज्जा, विनय इत्यादि देखकर नेत्रों को शान्ति मिलती है।'' तथापि स्वामीजी की यह टिप्पणी लगभग आधी शताब्दी पुरानी है। हम कल्पना कर सकते हैं कि आज पुरुषों के साथ समानता के नाम पर आधुनिकाएँ जो कुछ कर रही हैं, उसे देखकर वे न जाने क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते!

तथापि समानता का यह भाव निन्दनीय नहीं है, और यह हमारे लिए कोई नयी बात भी नहीं है। यह हमारी संस्कृति में गहराई तक जड़ें जमाये हुए है। हमारा विश्वास है कि आत्मा लिंगभेद के परे है। ऐसा ही नर-नारियों के मामले में भी है। भेद केवल शरीर से होता है जो कि उसका एक बाह्य रूप मात्र है। परमात्मा ही जीवात्मा के रूप में प्रकट होते हैं और स्थूल तथा सूक्ष्म असंख्य रूपों को व्यक्त करते हैं, जिन्हें हम संक्षेप में प्रकृति कहते हैं। प्रकृति उसी परमात्मा रूपी चिर तत्त्व पर प्रतिक्षण उभरनेवाले अनन्त नये नये रूपों की समष्टि है। बहुत्व मे एकत्व की यह वेदान्तिक शिक्षा ही प्रकृति में निहित सौन्दर्य तथा समन्वय का रहस्य है। वह (परमात्मा) ही सबमें है। सब कुछ पवित्र है। हर वस्तु के रूप तथा क्रिया में उसका अपना वैशिष्ट्य है, जो सौन्दर्य में वृद्धि करता है और समष्टि के साथ सामंजस्य बनाये रखने में योगदान करता है। पूरी योजना में हर वस्तु का अपना सुनिश्चित महत्व है।

समस्त सामाजिक उद्यमों के लक्ष्य – शान्ति की उपलब्धि करने की आशा करने के पूर्व हमें इस केन्द्रीय तत्व को जानकर प्रकृति में स्थित सभी वस्तुओं को इसी दृष्टि से देखना होगा। विविध वस्तुओं की भद्दी एकरूपता नहीं, बल्कि उनमें निहित सामंजस्य ही प्रकृति के परम सौन्दर्य की रचना करता है। अत: रूप तथा क्रिया में समानता हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह हमें निर्जीव एकरूपता की ओर ले जायगा और विविधता का परित्याग करके प्रकृति के उद्देश्य को ही विफल कर देगा। तथापि रूपों तथा क्रियाओं में इस विविधता के बावजूद, अपनी अन्तर्निहित दिव्यता के आधार पर व्यक्तियों तथा समूहों में सम्मान तथा विशेषाधिकारों के मामले में पूर्ण समानता होनी चाहिए। जो सहज रूप से किसी दूसरे का है, उसे हथियाने का प्रयास नहीं होना चाहिए और न ही छोटी-से-छोटी वस्तु की भी पवित्रता को भूलकर अपनी उत्कृष्टता दिखाने का प्रयास करना चाहिए। सामंजस्य तथा कल्याण के ये ही द्विविध रहस्य हैं। और ये सबमें निहित मूलभूत दिव्यता के एकत्व रूपी महान सत्य पर आधारित हैं। □(क्रमश:)□
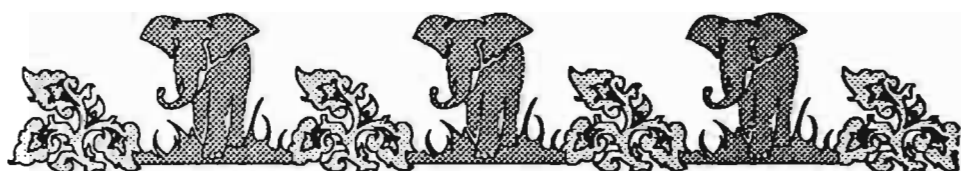
चुगली का दोष

भैरवदत्त उपाध्याय

मानव का मूल्य उसके गुणों से होता है। गुणों में उसकी चिन्तन पद्धति तथा कार्य-शैली का समावेश किया जाता है। अवगुण मानव का अवमूल्यन करते हैं। एक भी अवगुण अनेक गुणों से विभूषित मानव को अनवद्य सुन्दरी के ललाट पर उभरे कोढ़ के समान घृणा और बहिष्कार के योग्य बना देता है। सौ मन शक्कर को कड़ुआ करने के लिए कुटकी (एक कड़वी वनस्पति) का एक टुकड़ा ही पर्याप्त होता है। अवगुण, अवगुण है। उसमें बड़े-छोटे का हिसाब नहीं होता। अवगुणों की लम्बी सूची में पिशुनता – चुगलखोरी एक ऐसा ही अवगुण है, जिससे मानव का व्यक्तित्व कलंकित और दूषित हो जाता है तथा समाज उससे घृणा करने लगता है।

महामुनि नारद, शकुनी और माहिल नेगी – ये तीन पुराणेतिहास प्रसिद्ध चुगलखोर हैं; जिन्हें समाज ने आज तक क्षमादान कर विस्मृत करने की उदारता नहीं दिखाई। ये तीनों ही इतने कुख्यात हैं कि यदि इन जैसे चरित्र का कोई व्यक्ति कहीं दिखाई पड़ता है, तो लोग उसे इनमें से किसी भी सज्ञा से विभूषित कर देते हैं। पचतंत्र की कथाओं में करकट और दमनक नामक सियार चुगलखोरी के लिए कुख्यात हैं। दमनक पिंगलक नामक सिंह और संजीवक नामक बैल के बीच झगड़ा लगाकर संजीवक का प्राणनाश करा देता है। देखी या सुनी हुई बुराई का प्रसारण अथवा कानाफूँसी करना चुगली कहलाता है। एक की दो या दो की चार लगाना – चुगली का ही एक रूप है। यह एक प्रकार की निन्दा है, किन्तु इसमें गोपनीय आवरण में विश्वास के साथ गुप्तमंत्र-भेदन का तत्व प्रमुख है। इसके तीन पक्ष हैं – एक वह जिसकी चुगली की जाती है; दूसरा वह जिससे चुगली की जाती है और तीसरा वह म्वय चुगली करनेवाला – चुगलखोर। चुगलखोर जन्मजात नहीं होता, अपितु कुसंग से उसमें यह अवगुण आ जाता है। वह मनुष्य ही होता है। इसलिए उससे घृणा न कर चुगली से ही घृणा करनी चाहिए। चुगलखोरी सकाम और निष्काम दो भावों से की जाती है। निष्काम चुगलखोर उच्च कोटि का होता है, क्योंकि वह निस्पृह भाव से चुगलखोरी को अपना परम कर्म मानकर सम्पूर्ण समर्पण के साथ इसे सम्पन्न करता है। जबकि सकामी अपनी चुगलखोरी को अपने लक्ष्य की सिद्धि तक ही सीमित रहता है। चुगली आत्महीनता की अभिव्यक्ति है। इससे आत्मतोष मिलता है, क्योंकि दूसरों की कमजोरियों को उजागर करने के कर्म के द्वारा उसे अपनी कमियों को छिपाने एव उन पर क्षुब्ध न होने का अवसर हाथ लग जाता है। चुगलखोरी से व्यष्टि और समष्टि की शान्ति भंग होती है। इससे गलत धारणाओं और पूर्वाग्रहों का जन्म होता है। यह मानसिक अशान्ति का बीज बोकर कलह, द्वेष और वैमनस्य की वृद्धि करती है। हिंसा तथा प्रतिहिंसा के घी से अग्नि प्रज्जवलित करती है। समाज में समरसता, सहकारिता, संयोजन और निर्माणपरक

वातावरण को विनष्ट कर असामंजस्य, वियोग तथा पृथकतावादी प्रवृत्तियों को पनपाती है। इससे सत्य एवं न्याय का दमन होता है। अभीप्सित लक्ष्य भी नहीं मिलता।

चुगली मानसिक हिंसा है। इससे मित्रभेद होता है। व्यक्तित्व में हीनता आती है। मन कुण्ठाओं का शिकार होता है। घृणा के दायरे बढ़ते हैं और प्रेम की सीमाएँ सिकुड़ जाती हैं। विश्वास अविश्वास में, मित्रता शत्रुता में, प्रेम घृणा में तथा सदाशय दुराशय में बदल जाते हैं। चुगली मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी, बुराई और न्यूनता है। यह महत्तम आसुरी वृत्ति है। इसके त्याग से व्यक्ति में असुरत्व की पराजय, देवत्व का उदय और मनुष्यत्व का बोध होता है। गीता में चुगली को आसुरी सम्पत्तियों में और चुगली न करने की प्रवृत्ति – 'अपैशुन्यम्' को दैवी सम्पत्तियों में परिगणित किया गया है। दैवी-सम्पत्तियों से आत्म-कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होता है और आसुरी सम्पत्तियों से बन्धन अर्थात दुःख प्राप्त होता है। चुगलखोर बेनकाब होने पर कहीं का नहीं रहता। अगला जन्म उसे चमगादड़ का मिलता है। बाबा तुलसी ने इसे इन शब्दों में अभिप्रमाणित किया है –

सब कै निन्दा जो जड़ करहीं।

ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥ ७/१२१२७/

एक सुभाषित श्लोक में कहा गया है कि व्यक्ति में यदि पिशुनता है, तो उसे अन्य किन्हीं पातकों को करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात इसी से अन्य सारे पातक सहज में ही स्वतः हो जाते हैं –

"लोभश्चेन गुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकः।" ◻

उपनिषदों से शक्ति

उपनिषद शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा समस्त ससार पुनरुज्जीवित, सशक्त और वीर्यसम्पन्न बन सकता है। समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल-दुखी-पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता – यही उपनिषदों के मूल मंत्र हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

चेतना की शक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

१८९७ में स्वामी विवेकानन्दजी अमेरिका से दिग्विजयी होकर भारतवर्ष लौटे। भारत के विभिन्न भागों में व्याख्यान देते हुए वे कलकत्ते आये। एक दिन की घटना – स्वामीजी कलकत्ते के बागबाजार मुहल्ले में एक भक्त के घर ठहरे थे। वहाँ स्वामीजी के एक पट्ट शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती आ पहुँचे। उन्होंने देखा घर के सामने एक घोड़ागाड़ी खड़ी है और स्वामीजी कहीं जाने को तैयार हैं। शिष्य को देखकर स्वामीजी ने कहा, "तू भी मेरे साथ चल।" गाड़ी दोनों को लेकर चल पड़ी। गाड़ी रेल लाइन के किनारे किनारे चल रही थी। उसी समय विपरीत दिशा से रेल का एक इंजन आता हुआ दिखा। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "देख, कैसे सिंह के समान चला आ रहा है।" शिष्य ने कहा, "महाराज, उसमें इंजन की क्या विशेषता है? वह तो जड़ है। उसके पीछे मनुष्य की चेतना शक्ति कार्य कर रही है। इसीलिए वह चल रहा है।"

स्वामीजी ने पूछा, "अच्छा बताओ, चेतना का लक्षण क्या है?" शिष्य ने कहा, "महाराज, चेतना वही है जिसमें बुद्धि की क्रिया पाई जाय।" स्वामीजी ने कहा, "जो भी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह करता है, उससे लड़ता है वह चेतना है। उसी में चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को भी मारने जाओ तो वह भी अपनी जीवन-रक्षा के लिए एक बार संघर्ष करेगी। अतः जहाँ पुरुषार्थ है, संग्राम है वहीं जीवन का चिह्न है, और उसी में चैतन्य का प्रकाश है। प्रकृति से विद्रोह, प्रकृति से संघर्ष, संग्राम यही जीवन है। प्रकृति की दासता तो जीवन-मृत्यु है। आज विज्ञान और तकनीकी ने हमें जो सुविधाएँ दी हैं वह सब प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष करके ही तो प्राप्त की गई हैं। प्रकृति हमारी आवाज को कुछ मीटर से अधिक दूर नहीं जाने देती। किन्तु वैज्ञानिक ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया, प्रकृति से लड़ाई की, उसने ऐसे यंत्र बना लिये कि हम हजारों किलोमीटर के अन्तर पर रहते हुए भी एक-दूसरे की आवाज सुन सकते हैं। यह कैसे सम्भव हुआ? प्रकृति से युद्ध कर। पुरुषार्थ द्वारा उस पर विजय प्राप्त कर।"

यही उपाय है जीवन की सफलता का, दासत्व और दुखों से मुक्त होकर परम आनन्द और शान्ति पाने का। हमारी आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकृतियाँ हमें दबाकर रखना चाहती हैं। वे हमें दास बनाकर रखना चाहती हैं। अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए, अपना चरित्र गठित करने के लिए, जीवन में पूर्णता और आनन्द प्राप्त करने के लिए हमें प्रकृति की इस दासता से मुक्त होना आवश्यक है। हमें प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। उसे जीतना होगा। ऐसा कर सकना मनुष्य के लिए सर्वथा सम्भव है। मूल रूप में मनुष्य नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य आत्मा ही है और चैतन्य सर्वशक्तिमान होता है। चैतन्य से बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। अतः मनुष्य प्रकृति पर, अन्तर् और बाह्य प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है, तथा इसी जीवन में पूर्णत्व प्राप्त कर परमानन्द का अधिकारी हो सकता है। यही स्वामी विवेकानन्दजी का युग को सन्देश है। □

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— ११ —

आपका पत्र पाकर विशेष आनन्दित हुआ, परन्तु आपका दीन-हीन भाव देखकर क्षुब्ध हुआ हूँ। आप माँ की सन्तान हैं, भला हीनबुद्धि क्यों होंगे! इस भाव को पूर्णतया त्याग देना होगा। ठाकुर सिखाया करते थे – "कहो कि मैंने उनका नाम लिया है, फिर चिन्ता कैसी? वास्तव में आपका ऐसा आत्मग्लानि युक्त विचार जानकर मुझे अत्यन्त कष्ट होता है। प्रभु से यह भी सुना है कि ऐसा भाव आत्मोन्नति में बाधक है। उनके साथ अपने आपको दृढ़तापूर्वक सम्बन्धित जानकर उन्हीं की ओर अग्रसर होना होगा। 'मैं उनकी सन्तान हूँ' - यह बात कभी विस्मृत न हो। संसार के अन्य सारे सम्बन्ध आकस्मिक तथा क्षणस्थायी हैं, परन्तु उनके साथ जो सम्बन्ध है, वह चिरकाल के लिए है।

जीवन्मुक्ति-सुखप्राप्तिहेतवे जन्मधारितम्।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया॥

– वह नित्यमुक्त आत्मा जीवन्मुक्ति के सुख का आस्वादन करने के लिए ही जन्म लेती है, न कि सांसारिक सुख की कामना से।

शकराचार्य का उपरोक्त श्लोक जब मैंने सर्वप्रथम पढ़ा था, तब मेरे हृदय को जो अद्भुत आनन्द तथा आलोक मिला था, उसे आपको कैसे बताऊँ ! मानो उसी समय जीवन का कर्तव्य प्रकाशित हो उठा और अपने आप ही सारी समस्याओं का पूर्ण समाधान हो गया था। तब मैंने समझा कि मानव-जीवन धारण करने का एकमात्र उद्देश्य जीवन्मुक्ति की सुखप्राप्ति ही है, अन्य कुछ भी नहीं। वास्तव में नित्यमुक्त आत्मा अन्य किसी भी कारण से देह धारण नहीं करती। देहधारण करके भी वह मुक्त है, इसी भाव की उपलब्धि के लिए उसका देहधारण है। आप वही नित्यमुक्त आत्मा हैं, अत: आपके मुख से ऐसी असंगत बातें शोभा नहीं देतीं।

सम्भव है कि आपमें सूर्य की ओर सीधे ताकने की क्षमता न हो, परन्तु प्रतिबिम्बित सूर्य को देखने में कष्ट नहीं होता। इसी प्रकार 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' – ऐसा निश्चय कठिन होने पर भी, 'मैं उन्हीं का (अंश या सन्तान) हूँ' – ऐसा निश्चय करना होगा। अपने आपको उनसे अलग सोचना तो किसी भी अवस्था में उचित या श्रेयस्कर नहीं है। 'मैं जैसा भी हूँ उन्हीं का हूँ, अन्य किसी का नहीं हूँ'। सन्तान अत्यन्त अयोग्य होने पर भी सन्तान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। 'माँ, मैं कुपुत्र होऊँ या सुपुत्र, तुम्हें तो सब पता है। क्या ऐसा भी कहीं होता है कि कुपुत्र होने पर माँ बच्चे को त्याग देती हो?" मैं माँ की सन्तान हूँ। भला हूँ या बुरा, मैं माँ का हूँ - और किसी का भी नहीं। आप माँ की सन्तान हैं, भले हों या बुरे – आप नि:सन्देह माँ की सन्तान हैं।

मेरा स्नेह तथा शुभ-कामनाएँ स्वीकार कीजिएगा।

— ९२ —

खाद्य-अखाद्य आदि का विचार नये लोगों के लिए है। जिनका मन प्रभु में लीन रहता है, उन्हें कुछ भी खाने से अन्तर नहीं पड़ता। चित्त को उनमें लगाना चाहिए – यही असल बात है। स्वामीजी के किसी ग्रन्थ से मुझे उनका यह कथन स्मरण है – ' एक टुकड़े मास या किसी अन्य अशास्त्रविहित आहार के कारण यदि ईश्वर का करुणासागर सूख जाय, तो फिर ऐसे ईश्वर की उपासना करके क्या होगा?'' तात्पर्य यह है कि खाने-पीने से ज्यादा कुछ अन्तर नहीं पड़ता। भाव को शुद्ध रखना होगा। शूकर का मांस खाकर भी मन ईश्वर का चिन्तन करे, तो वह हविष्यान्न के तुल्य है। और हविष्य खाकर भी यदि मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि नीच प्रवृत्तियों का साम्राज्य हो, तो उस हविष्य-भक्षण से क्या लाभ? केवल यह धर्माभिमान कि 'मैं हविष्याहारी हूँ' आकर उसे और भी अधोगामी करेगा।

इससे यह न समझ बैठना कि खाद्य-अखाद्य का विचार करने की बिल्कुल भी जरूरत नहीं। मेरे कथन का मर्म तुम समझ गये होगे कि इसमें सोलह आने मन लगाने की जरूरत नहीं है। सोलह आने मन एकमात्र भगवान को ही देना होगा, उसके बाद बाकी चीजों को। कहीं 'सोना फेंककर आँचल में गाँठ बाँधना' न हो। आँचल में गाँठ बाँधना तो सोने के लिए ही है। अत: यदि सोना ही न रहा, तो केवल गाँठ बाँधने से क्या लाभ? इसी प्रकार सारे नियम, साधन, भजन आदि भगवत्प्राप्ति के लिए हैं। उसी भगवत्प्राप्ति की ओर यदि गति न हो, तो फिर नियम आदि का क्या उपयोग? सब वृथा ही है।

एक भजन याद आ रहा है – (भावार्थ) ''हे प्रभो, कहो! मैं कौन-सा धन लेकर जीवन-यापन करूँगा? समस्त धनों में अमूल्य रत्न तो तुम्हीं हो और मेरे हृदय-धन भी हो। तुम्हें पाकर, सब छोड़ पर्णकुटी में भी रहना अच्छा है। हृदयनाथ! मेरा हृदय आलोकित करो। मैं सारे दु:ख भूलकर तुमसे निवेदन करूँगा कि तुम (मुझे छोड़कर) चले न जाना। अहा! तुम्हें छोड़, ससार में लिप्त होकर मैं भला कैसे रह सकूँगा? (धन-मान आदि लेकर क्या होगा, यह सब तो साथ नहीं जायगा!) तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ, तुम चिरकाल के लिए मेरे अपने हो।'' भाव इसी को कहते हैं – 'तुम चिरकाल के लिए मेरे अपने हो।' बाकी सब चिरकाल के लिए नहीं, बल्कि दो दिन के लिए है – अभी है, अभी नहीं। एकमात्र वे ही चिरकाल के लिए हैं, इसीलिए उन्हें लेकर किसी भी अवस्था में रहने पर दु:ख नहीं होता। अत्यन्त दु:ख की हालत में भी उन्हें हृदय में देख पाने पर अपार सुख होता है, इसीलिए उनकी आवश्यकता है, वही होने से सब हुआ। किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है।

एकै साधै सब सधै, सब साधे सब जाय।
तो तू सींचे मूल को, फूले फले अघाय।।

एक का साधन करने से, सब सध जाते हैं, और एक साथ अनेक साधन करने से, एक भी साध पूरी नहीं होती। वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वह फल-फूल से परिपूर्ण होगा, परन्तु किसी अन्य प्रकार से सींचने से कुछ नहीं होगा। इसीलिए जो लोग उन्हीं की कृपा से उन्हें जान सके हैं, वे कहते हैं कि 'प्रभो, तुम्हें छोड़कर और किसे ग्रहण करूँ? सभी धनों में

अमूल्य रत्न तुम्हीं मेरे हृदय-धन हो' - इसी बात की निश्चयपूर्वक धारणा करनी होगी।

— ९३ —

सोचा था आपको पत्र लिखूँगा कि आपका ही पत्र आ पहुँचा। बड़ा ही आनन्द हुआ और पत्र भी क्या! सब सार बातें लिखी हैं। भावों में असम्बद्धता होने से भी क्या? एक विषय में तो ठीक है और वही ठीक रहने पर असल चीज ठीक रहती है। क्या ही सुन्दर सब बातें लिखी हैं आपने! बलिहारी जाता हूँ! सत्संग ही भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। अहा! इसके ऊपर भी कुछ कहने का है क्या? भगवान सत्-चित्-आनन्द जो हैं। सत्संग करने पर उन्हीं का तो संग करना हुआ।

लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) और महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के बारे में आपका क्या ही सुन्दर सिद्धान्त है! इसकी निश्चित रूप से धारणा कर पाने पर इसी से परम श्रेय की प्राप्ति होगी। और आपने ने जो कहा है कि भगवान के प्रमाण भगवान स्वयं ही हैं। क्या ही सत्य बात है!

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। (गीता, १०/१५)

— हे पुरुषोत्तम, आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं च महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (वही, १०/२)

— मेरा आविर्भाव न तो देवता लोग ही जानते हैं और न ही महर्षिगण, क्योंकि मैं ही सभी देवताओं तथा महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।

उन्हें कौन जान सकेगा? वे स्वयं ही कृपा करके समझाएँ, तो हो। ठाकुर ने एक दिन यह भजन गाकर मुझे रुला दिया था — "अरे लवकुश! तुम लोग किस बात का गर्व कर रहे हो? यदि मैं स्वयं ही पकड़ में न आ जाऊँ, तो तुम्हारी क्या बिसात कि मुझे पकड़ो।"[१] इसी से मेरे मन में बहुत उथल-पुथल मच गयी थी। उसी दिन उन्होंने यह निश्चित धारणा करा दी थी कि साधन के द्वारा, केवल अपने प्रयास से उन्हें नहीं पाया जा सकता। वे स्वयं ही गिरफ्त में आ जाने से उन्हें पाया जा सकता है। वे — "**मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्** — यह आत्मा मन से भी अधिक वेगवान है, इसे इन्द्रियाँ भी नहीं पकड़ पातीं, क्योंकि यह उनसे भी पहले ही पहुँच जाता है।"(ईश. ४) "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** — यह आत्मा जिसका वरण करती है, उसी के द्वारा यह लभ्य है।"(कठ. १.२.२३)

आपके पत्र की प्रत्येक पंक्ति में ईश्वर-निर्भरता का भाव विद्यमान देखकर मैं आनन्दविभोर हो उठा हूँ। मेरा विश्वास है कि प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे और आपका हाथ पकड़कर ले जाएँगे।

१. दाशरथि राय के बँगला भजनांश का भावानुवाद